

‘भारतीय आधुनिक शिक्षा’ राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की एक त्रैमासिक पत्रिका है। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों, शैक्षिक प्रशासकों तथा शोधकर्ताओं को एक मंच प्रदान करना, शिक्षा के विभिन्न आयामों जैसे-शिक्षादर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा की समकालीन समस्याएं, पाठ्यक्रम एवं प्रविधि संबंधी नवीन विकास, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा का स्वरूप, विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति आदि पर मौलिक तथा आलोचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहित करना और शिक्षा के सुधार और विकास को बढ़ावा देना। लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए विचार उनके अपने हैं। अतः ये किसी भी प्रकार से परिषद् की नीतियों को प्रस्तुत नहीं करते इसलिए इस संबंध में परिषद् का कोई उत्तरदायित्व नहीं है।

### अकादमिक संपादक

राजरानी

### अकादमिक संपादकीय समिति

रंजना अरोड़ा योगेश कुमार  
किरण वालिया अनुपम आहूजा  
एम.वी. श्रीनिवासन सुनीता कुमारी नागर (जे.पी.एफ.)

### प्रकाशन विभाग के सदस्य

विभागाध्यक्ष नीरजा शुक्ला  
मुख्य संपादक श्वेता उप्पल  
संपादन ओम प्रकाश  
उत्पादन सुनील कुमार

आवरण  
अमित श्रीवास्तव

### एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस  
श्री अरविंद मार्ग  
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड  
हेली एक्सटेंशन, होस्टेकेरे  
बनाशकरी III इस्टेज  
बंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन  
डाकघर नवजीवन  
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस  
धनकल बस स्टॉप के सामने  
पनिहटी  
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लेक्स  
मालीगाँव  
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

### मूल्य

एक प्रति – 50.00 रुपए वार्षिक – 200.00 रुपए

## परिषद् की 'भारतीय आधुनिक शिक्षा' एवं 'प्राइमरी शिक्षक' त्रैमासिक पत्रिकाओं के ग्राहकों, पाठकों तथा लेखकों से निवेदन

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की उल्लेखित दो त्रैमासिक पत्रिकाएं शिक्षा जगत में राष्ट्रीय स्तर तथा राज्य स्तर पर हो रहे अनेक प्रयोगों, अनुसंधानों, कार्यक्रमों व गतिविधियों को पाठकों तक पहुँचाने के सुगम माध्यम हैं। इन पत्रिकाओं का प्रकाशन विशेष रूप से विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत शिक्षाविदों, शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों तथा पाठ्यक्रम निर्माताओं को समर्पित है। इनके प्रत्येक संस्करण में ऐसे नवीनतम लेखों के प्रकाशन को प्राथमिकता दी जाती है जो शैक्षिक नीतियों से संबंधित हों, गुणात्मक सुधार की दिशा में उल्लेखनीय प्रयोग हों, अधिगम को सुरुचिपूर्ण तथा ग्राह्य बनाने की दिशा में निजी अनुभव अथवा शोध कार्य हों, विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के विवरण हों, शिक्षण-प्रशिक्षण संबंधी प्रभावी सामग्री हो। शैक्षिक उपयोगिता से ये पत्रिकाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा परिषद् इन्हें मूल लागत से भी बहुत कम कीमत पर पाठकों को उपलब्ध कराती है।

इन पत्रिकाओं के लिए उत्कृष्ट स्तर के शिक्षाप्रद प्रभावी लेख सहर्ष स्वीकार किए जाते हैं तथा उनके प्रकाशन के उपरांत समुचित मानदेय देने की भी व्यवस्था है। लेख की विषयवस्तु 2500 से 3000 शब्दों में या अधिक टंकित रूप में होना वांछनीय है। यदि लेखक अपने लेखों के साथ सीडी या फ्लोपी और स्वयं का ई. मेल का पता भेज सकें तो सुविधा होगी। कृपया अपने लेख निम्न पते पर भेजें -

विभागाध्यक्ष (पत्रिका प्रकोष्ठ), प्रकाशन विभाग  
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्  
श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016

अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग द्वारा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 के लिए प्रकाशित तथा ..... द्वारा मुद्रित।

# भारतीय आधुनिक शिक्षा

वर्ष 31

अंक 1

जुलाई 2010

## इस अंक में

संपादकीय		3
शिक्षा का मौलिक अधिकार कुछ मुद्दे और कुछ चुनौतियाँ	- रंजना अरोड़ा एवं राजरानी	5
खिलौनों का समाजशास्त्र	- सचिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'	16
आसपास के परिवेश से शिक्षण मध्य प्रदेश शासन की नई पहल	- लक्ष्मी नारायण मित्तल	22
हस्तशिल्पों की धरोहर	- एन.सी.ई.आर.टी.	25
यूरोपीय भाषा चिंतन और भारत	- विजय कुमार	41
बाल श्रम की सामाजिक समस्या शैक्षिक उद्बोधन	- कनक शर्मा	59
भारतीय संस्कृति में पर्यावरण	- सुषमा जोशी	69
21वीं सदी में उच्च शिक्षा की चुनौतियाँ भविष्योन्मुखी दृष्टि और उच्च शिक्षा	- अनुज कुमार	75
राजा राममोहन राय भारत में आधुनिक शिक्षा के अग्रदूत	- रश्मि श्रीवास्तव	83

माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य संबंध का अध्ययन	- प्रवीन देवगन	96
दूरस्थ प्रणाली के माध्यम से उच्च शिक्षा ऐतिहासिक लेखा-जोखा	- उमेश चंद्र अग्रवाल	106
'बाल उत्सव' एक संक्षिप्त रिपोर्ट	- अंजुला सागर	115
पावलो फ्रेरे के शैक्षिक चिंतन के संदर्भ में भारतीय शैक्षिक परिदृश्य	- देवेन्द्र सिंह	119

## संपादकीय

सर्व शिक्षा अभियान को लगभग एक दशक पूरा होने वाला है और हम अभी भी स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता की गारंटी नहीं दे पाते। यही नहीं, सभी बच्चों की स्कूलों तक पहुँच में भी हमने पूरी सफलता हासिल नहीं की। शायद यही कारण रहा कि हमें आज आजादी के 63 सालों बाद बच्चों के शिक्षा के अधिकार को कानूनी जामा पहनाना पड़ा। ऐतिहासिक घटनाओं की श्रृंखला की तरह यह विधेयक सुधारों की प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ आज कानून बनकर प्रभाव में आ गया है। स्कूली शिक्षा कानूनी दायरे में है और पिछले साठ वर्षों से इसकी समस्याएँ लगभग वैसी की वैसी ही हैं।

क्या कहता है यह अधिनियम? क्या हैं इसकी चुनौतियाँ? इसे कैसे लागू किया जायेगा? इन मुद्दों पर प्रकाश डालता हुआ एक लेख 'शिक्षा का मौलिक अधिकार—कुछ मुद्दे और कुछ चुनौतियाँ' इस अँक में शामिल किया गया है। पिछले अन्य कई अँकों की तरह इस बार का अँक भी शिक्षा के विभिन्न पहलुओं को समेटने में चूक नहीं करता है। यह अँक एक ओर तो शिक्षा के मौलिक अधिकार के संदर्भ में स्कूली शिक्षा की चुनौतियों पर बात करते हुए कनक

शर्मा के लेख 'बालश्रम की सामाजिक समस्या' को शामिल करता है तो दूसरी ओर अनुज कुमार के लेख '21वीं सदी में उच्च शिक्षा की चुनौतियाँ' के जरिए उच्च शिक्षा की चुनौतियों को भी सामने रखता है। शैक्षिक प्रक्रिया में आसपास के परिवेश का बड़ा महत्व है। इस कथन का समर्थन करती हुई सामग्री—एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित 'हस्तशिल्पों की धरोहर' राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र और सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का लेख वास्तव में शिक्षा का एक अलग परिदृश्य सामने रखते हैं।

इसी कड़ी में जुड़ता है लक्ष्मी नारायण मित्तल का लेख 'आसपास के परिवेश से शिक्षण'। यह अँक कुछ ऐसे लेख भी शामिल करता है जो शिक्षा और भाषायी चिंतन पर विमर्श को स्थान देते हैं। इनमें देवेन्द्र सिंह का लेख 'पावलो फ्रेरे के शैक्षिक चिंतन के संदर्भ में भारतीय शैक्षिक परिदृश्य' तथा विजय कुमार का लेख 'यूरोपीय भाषा—चिंतन और भारत' को रखा जा सकता है। इसी कड़ी में 'भारतीय संस्कृति में पर्यावरण' की बात करता हुआ लेख है सुषमा जोशी का, जिसमें वैश्वीकरण के दौर में वन्य संस्कृति को मिटा पनपती हुई नगर संस्कृति पर चिंता व्यक्त की गई है। जब भी शिक्षा की बात चलती है तो

प्राथमिक से माध्यमिक स्तर, फिर उच्च शिक्षा और शिक्षक शिक्षा, जब तक ये सभी अवस्थाएँ शामिल न हो जाएँ औपचारिक शिक्षा का चक्र पूरा नहीं होता। शायद इसलिए हमने भी इस अंक में उमेश चंद्र अग्रवाल का लेख दूरस्थ प्रणाली के माध्यम से 'उच्च शिक्षा' ऐतिहासिक लेखा-जोखा, प्रवीन देवगन का लेख 'माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य संबंध का अध्ययन' को

शामिल किया ही है साथ ही शामिल की है 'बाल उत्सव' पर एक संक्षिप्त रिपोर्ट। यह बाल उत्सव एन.सी.ई.आर.टी. के शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान द्वारा इसी के प्रावधान में आयोजित किया गया। इसने बच्चों की गर्मी की छुट्टियों को सृजन के आनन्द से सराबोर करते हुए उन्हें कठपुतली कला, कार्टून मेकिंग, विडियो प्रोग्रामिंग इत्यादि सीखने का और उसमें कुछ नया करने का अवसर दिया।

**अकादमिक संपादकीय समिति**

# शिक्षा का मौलिक अधिकार कुछ मुद्दे और कुछ चुनौतियाँ

रंजना अरोड़ा\*  
राजरानी\*\*

---

बच्चों की मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार का अधिनियम 1 अप्रैल 2010 से प्रभाव में आ गया है। इसका क्रियान्वयन सही ढंग से हो इसके लिए आवश्यक है कि हम इसे समझें और शैक्षिक समुदाय से जुड़े अन्य सभी लोगों को समझाएँ। हम इसके मात्र आलोचक या समर्थक न बनकर विवेचक बनें। इसकी गहरी विवेचना कर इसकी खूबियों का लाभ उठाएँ और खामियों को दूर करने के लिए एकजुट हों। इस अधिनियम के मुख्य अवयवों तथा इससे जुड़े सरोकारों और चुनौतियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है इस लेख में।

---

लोकतंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति और समाज के विकास के लिए सक्षम परिस्थितियाँ बनाने की शक्ति रखती है। तानाशाही के विपरीत इसमें व्यक्ति और समाज स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पहचान करते हैं, इन आवश्यकताओं को अपने ही द्वारा अपने लिए बनी सरकार तक पहुँचाते हैं और फिर शुरू होते हैं इन्हें अमली जामा पहनाने के प्रयत्न। यदि हम भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की बात करें तो हमें इसके साथ इसकी असीमित विविधता को भी जोड़ना

होगा। किसी भी तरह के विकास के प्रयत्न इस बात की माँग करते हैं कि इन्हें भाषा, धर्म, जाति, वर्ग, जैँडर इत्यादि सभी के संदर्भों में देखा जाए। कोई भी प्रयत्न इन मुद्दों से अलग हटकर किया जाता है तो उसकी असफलता सुनिश्चित हो जाती है। आज भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था शिक्षा के इतिहास के उस महत्वपूर्ण मोड़ पर खड़ी है जहाँ हमारे बच्चों के लिए शिक्षा के अधिकार को कानूनी जामा पहना दिया गया है और इस कानून को लागू भी कर दिया गया है। आजादी के 63 सालों बाद

---

\* प्रवाचक, माध्यमिक शिक्षा समूह, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली.

\*\* प्रवाचक, अध्यापक शिक्षा एवं विस्तार विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली.

आज भारत जिस सपने को साकार करने का प्रयत्न कर रहा है उसकी जड़ें बहुत ज्यादा पुरानी हैं, स्वतंत्रता संग्राम के समय से ही भारतीयों ने सार्वभौमिक सार्वजनिक शिक्षा के लिए आवाजें उठानी शुरू कर दी थीं। परंतु बरतानी साम्राज्यवादियों ने उनकी इस माँग को ठुकरा दिया और 1870 में प्रत्येक बरतानी के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा<sup>1</sup> को कानूनी रूप दे दिया। ऐसा इसलिए किया गया ताकि बरतानी साम्राज्य बचा रहे और उपनिवेशों पर अपना अधिपत्य बनाए रखे। फिर भी भारतीयों ने अपनी माँग जारी रखी। 18 मार्च 1910 में गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत में मुफ्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रावधान के लिए एक प्रस्ताव साम्राज्यवादी वैधानिक परिषद् में रखा। नीचे दिए गए कुछ वाक्य उस प्रस्ताव का ही हिस्सा थे—

“मैं परिषद् के सामने सोच-विचार के लिए निम्न निवेदन करता हूँ, राज्य को इस देश के लिए जन शिक्षा के संबंध में वैसी ही जिम्मेदारी स्वीकार करनी चाहिए जैसी जिम्मेदारी अधिकतर सभ्य देशों की सरकारें निभा रही हैं और साथ ही विचारपूर्वक एक योजना बनानी चाहिए और जबतक वह लागू न हो जाए उसका समर्थन करना चाहिए। लाखों बच्चे जो शिक्षा के प्रभाव में आने का इंतजार

कर रहे हैं, उनका कल्याण इसी पर निर्भर करता है”<sup>2</sup>

विडम्बना यह रही कि आजादी के पहले और बाद के छह दशकों के दौरान कुछ गंभीर प्रयासों के बावजूद अगस्त 2010 से पहले यह एक न पूरा होने वाला सपना ही था। पिछले सौ वर्षों में इस दिशा में किए गए कुछ प्रयासों पर नजर डाली जाए तो निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

1. 1910 में गोपाल कृष्ण गोखले<sup>3</sup> के अनिवार्य शिक्षा के लिए दिए प्रस्ताव के पश्चात् 1937 में गाँधी जी ने सार्वभौमिक शिक्षा की बात उठाई।<sup>4</sup>
2. 1951 में भारतीय संविधान में शिक्षा के अधिकार को मान्यता दी गई थी, पर यह राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में शामिल रहा।<sup>5</sup>
3. 1993 में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि शिक्षा पाना हर बच्चे का मौलिक अधिकार है।<sup>6</sup>
4. 1997 में संविधान के 86वें संशोधन द्वारा शिक्षा के अधिकार को प्रभावी बनाया गया।<sup>7</sup>
5. दिसम्बर 2002 अनुच्छेद 21ए (भाग 3) के माध्यम से 86वें संशोधन विधेयक में 6-14 साल के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकार माना गया।<sup>8</sup>

<sup>1</sup>विनोद रैना (2009), 'राइट टू एजुकेशन', [http://kwww.india\\_seminar.com//2009//593-vinod\\_raina.htm](http://kwww.india_seminar.com//2009//593-vinod_raina.htm).

<sup>2</sup>जी. सेल्वा (2010), 'यूनिवर्सल एजुकेशन इन इंडिया: ए सैंचुरी ऑफ अनफुलफिल्ड ड्रीम्स', <http://pragoti.org//noda//3262> (अनुवादित).

<sup>3</sup>विनोद रैना (2009), 'राइट टू एजुकेशन', [http://www.india\\_seminar.com//2009//593-vinod\\_raina.htm](http://www.india_seminar.com//2009//593-vinod_raina.htm)

<sup>4</sup>वही

<sup>5</sup>'सबको शिक्षा', जनसत्ता (दैनिक समाचार पत्र, 6 अगस्त 2009).

<sup>6</sup>वही

<sup>7</sup>'शिक्षा का अधिकार अधिनियम कानून'-इंडिया डेवलपमेंट गेट वे—स्रोत—इंफोचेंज इंडिया, [http://www.indg.inprimary\\_education//policies\\_and\\_schemes](http://www.indg.inprimary_education//policies_and_schemes) (अनुवादित).

<sup>8</sup>वही



6. अक्टूबर 2003 में उपरोक्त अनुच्छेद में वर्णित कानून, मसलन बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा विधेयक 2003 का पहला मसौदा तैयार कर वेबसाइट पर डाला गया और आम लोगों से इस पर राय और सुझाव आमंत्रित किये गए।<sup>9</sup>
7. सन् 2004 में मसौदे पर प्राप्त सुझावों के मद्देनजर मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा विधेयक 2004 का संशोधित प्रारूप तैयार किया गया।<sup>10</sup>
8. जून 2005 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार पार्षद समिति ने शिक्षा के अधिकार विधेयक का एक और प्रारूप तैयार किया और उसे मानव संसाधन विकास मंत्रालय को सौंपा।<sup>11</sup>
9. 14 जुलाई 2006 में वित्त समिति और योजना आयोग ने इस विधेयक को आवश्यक कोष अभाव का कारण बताते हुए नामंजूर कर दिया और एक मॉडल विधेयक तैयार कर आवश्यक व्यवस्था करने के लिए राज्यों को भेजा।<sup>12</sup>
10. दिसंबर 2008 में मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार के विधेयक को राज्यसभा में प्रस्तुत किया गया और काफी बहस के बाद 15 दिसम्बर 2008 को इसे मंजूरी मिल गई।<sup>13</sup>

11.4 अगस्त 2009 को संसद ने इस ऐतिहासिक विधेयक को मंजूरी देकर इसे कानून का करार दे दिया।<sup>14</sup>

### क्या है इस अधिनियम<sup>15</sup> में

1993 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए फैसले, जिसमें यह माना गया कि शिक्षा पाना हर बच्चे का मौलिक अधिकार है के लगभग सत्रह साल बाद 'शिक्षा का अधिकार' पर संसद की मुहर लगी। मुफ्त और अनिवार्य 'शिक्षा का अधिकार' अधिनियम के जरिए 6-14 साल के सभी बच्चों के लिए शिक्षा को कानूनी अधिकार बनाया गया है। सात अध्यायों और एक अनुसूची में विस्तार लेता हुआ यह अधिनियम अपने पहले अध्याय 'प्रारंभिक' में अधिनियम में लाए गए कुछ महत्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या करता है। जिनमें से कुछ मुख्य शब्द अधिनियम में दी गई व्याख्या के साथ नीचे दिए जा रहे हैं—

### अध्याय-1 'प्रारंभिक' से

- 'बच्चा'—इसका अर्थ है कोई भी बच्चा (लड़का या लड़की) जो 6-14 वर्ष के बीच में है।
- 'वंचित समूह का बच्चा'—इसका अर्थ है वह बच्चा जो उपयुक्त सरकार द्वारा अधिसूचित किसी समूह जैसे—अनुसूचित

<sup>9</sup> शिक्षा का अधिकार अधिनियम कानून'-इंडिया डेवलपमेंट गेट वे—स्रोत—इंफोचेंज इंडिया, <http://www.indg.inprimaryeducation//policies and schemes> (अनुवादित).

<sup>10</sup> वही

<sup>11</sup> वही

<sup>12</sup> 'पार्लियामेंट पासस हिस्टोरिक राईट टू एजुकेशन', द पयोनियर (दैनिक समाचार पत्र, 5 अगस्त 2009) (अनुवादित).

<sup>13</sup> वही

<sup>14</sup> विनोद रैना (2009), "राइट टू एजुकेशन", [http://www.india\\_seminar.com//2009//593-vinod\\_raina.htm](http://www.india_seminar.com//2009//593-vinod_raina.htm).

<sup>15</sup> द राइट ऑफ चिल्ड्रन टू फ्री एण्ड कम्पलसरी एजुकेशन एक्ट, भारत सरकार 2009, (अनुवादित).

जाति, अनुसूचित जनजाति, सामाजिक शैक्षिक रूप से पिछड़ा वर्ग या कोई अन्य समूह जिसे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, भौगोलिक, भाषाई, लैंगिक या इसी तरह के किसी कारक के कारण असुविधा है, से संबंध रखता है।

- 'कमजोर वर्ग का बच्चा'—इसका अर्थ है बच्चे के अभिभावकों या माता-पिता की वार्षिक आमदनी, उपयुक्त सरकार द्वारा अधिसूचित आमदनी की निर्धारित न्यूनतम सीमा से कम है।
- 'आरंभिक शिक्षा'— का अर्थ है कक्षा एक से आठ तक की शिक्षा।
- 'विद्यालय'— का अर्थ है कोई भी मान्यता प्राप्त विद्यालय जो आरंभिक शिक्षा दे रहा हो और इसमें शामिल हैं—
  1. विद्यालय, जो उपयुक्त सरकार द्वारा स्थापित हों, उसके स्वामित्व में हों या स्थानीय प्राधिकरण द्वारा नियंत्रित हों।
  2. एक अनुदानप्राप्त विद्यालय जो अपने आंशिक/पूर्ण व्यय के लिए उपयुक्त सरकार या स्थानीय प्राधिकार से अनुदान प्राप्त कर रहा हो।
  3. एक विद्यालय जो निर्धारित वर्ग में आता है। विद्यालय के संदर्भ में निर्धारित वर्ग का अर्थ है केंद्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय, सैनिक विद्यालय या फिर ऐसा कोई भी विद्यालय जो ऐसी अलग विशेषता रखता हो जिसे उपयुक्त सरकार ने अधिसूचना जारी कर निर्धारित किया हो।
  4. एक विद्यालय जो अपने खर्च के लिए उपयुक्त सरकार अथवा स्थानीय प्राधिकार

से किसी तरह का भी अनुदान प्राप्त नहीं कर रहा है।

## अध्याय-2 'मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार' से

अध्याय 2 के कुछ मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं—

1. 6-14 वर्ष की उम्र के किसी भी बच्चे को पड़ोस के स्कूल में आरम्भिक शिक्षा पूरी होने तक मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार होगा। किसी भी बच्चे को आरम्भिक शिक्षा लेने के लिए ऐसा कोई भी व्यय नहीं करना होगा अथवा शुल्क नहीं देना होगा जो उसे आरंभिक शिक्षा में आगे बढ़ने अथवा पूरी होने से रोक सके। किसी प्रकार की विकलांगता (विकलांगता से प्रभावित व्यक्तियों के लिए बना कानून, 1985 के अनुसार) से प्रभावित बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार होगा।
2. यदि छह साल से ऊपर के किसी बच्चे ने किसी स्कूल में दाखिला नहीं लिया या अपनी आरंभिक शिक्षा नहीं पूरी कर पाया तो उसे उसकी उम्र के अनुरूप कक्षा में दाखिला मिलेगा। इस स्थिति में उसे दूसरे विद्यार्थियों के बराबर आने के लिए उसी समय सीमा (जैसी निर्धारित हो) में विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करने का अधिकार होगा। आरंभिक कक्षा के लिए दाखिल बच्चे को 14 वर्ष के बाद भी तबतक मुफ्त शिक्षा मिलेगी जबतक उसकी आरंभिक शिक्षा पूरी नहीं हो जाती।

### अध्याय-3 'उपयुक्त सरकार स्थानीय प्राधिकरण और अभिभावकों के कर्तव्य' से-

अध्याय-3 के कुछ मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं—

1. इस कानून के प्रावधान लागू करने के लिए उपयुक्त सरकार और स्थानीय प्राधिकरण को उनके क्षेत्रों या पड़ौस की सीमा में जैसा कि निर्धारित किया गया है यदि स्कूल न हो तो इस कानून के लागू होने के तीन वर्षों के भीतर स्कूल की स्थापना करनी होगी।
2. इस कानून के प्रावधानों को लागू करने हेतु धन मुहैया कराने की जिम्मेदारी केंद्र सरकार और राज्य सरकार दोनों की होगी।
3. केंद्र सरकार अकादमिक प्राधिकारियों की सहायता से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा विकसित करेगी। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए मानक विकसित करेगी तथा लागू करेगी। नवाचारों, शोधों, योजनाओं और क्षमता निर्माण को बढ़ावा देने के लिए राज्य सरकारों को तकनीकी सहायता तथा संसाधन उपलब्ध कराएगी।
4. उपयुक्त सरकार तथा स्थानीय प्राधिकरण का यह दायित्व होगा कि भौतिक सुविधाएँ जिसमें विद्यालय भवन, शिक्षक और अधिगम उपकरण शामिल हैं—को उपलब्ध कराएँ, विशेष प्रशिक्षण की सुविधा भी उपलब्ध कराएँ तथा अनुसूची में निर्धारित मानकों के अनुसार अच्छी गुणवत्ता पूर्व शिक्षा सुनिश्चित करे।
5. प्रत्येक अभिभावक या बच्चों के संरक्षक का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने बच्चों को

पड़ौस के विद्यालय में आरंभिक शिक्षा के लिए प्रवेश दिलाएँ।

6. तीन साल से ऊपर के बच्चों की आरंभिक शिक्षा की तैयारी तथा सभी बच्चों की पूर्व बाल्यावस्था देख-रेख तथा शिक्षा जबतक कि वे छह साल के नहीं हो जाते के मद्देनजर उपयुक्त सरकार ऐसे बच्चों के लिए विद्यालय-पूर्व शिक्षा उपलब्ध कराने के आवश्यक प्रबंध करेगी।

### अध्याय-4 'विद्यालयों तथा शिक्षकों के दायित्व' से—

1. सभी प्रकार के सरकारी विद्यालय, प्रवेश लेने वाले सभी बच्चों को मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराएँगे।
2. सरकारी अनुदान प्राप्त विद्यालय ऐसे अनुपात में बच्चों को मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराएँगे जिसमें उनके अनुपात का न्यूनतम 25% हिस्सा खर्च हो।
3. पूरी तरह से निजी विद्यालय कक्षा एक के लिए निर्धारित विद्यार्थी की संख्या का न्यूनतम 25% बच्चे पड़ौस के कमजोर वर्ग तथा वंचित वर्ग से लेंगे और उन्हें आरंभिक शिक्षा के पूरी होने तक मुफ्त अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराएँगे।
4. कोई भी विद्यालय या व्यक्ति बच्चे के प्रवेश के समय किसी भी तरह का प्रतिव्यक्ति (केपिटेशन) शुल्क नहीं लेगा और न ही बच्चे के अभिभावकों और संरक्षकों की परीक्षा। ऐसा करने वाले विद्यालय को जुर्माना देना पड़ सकता है।

5. किसी बच्चे को उम्र के प्रमाण-पत्र के अभाव में विद्यालय में प्रवेश लेने से रोका नहीं जाएगा।
6. किसी बच्चे को किसी कक्षा में रोका नहीं जाएगा और आरंभिक शिक्षा के पूर्ण होने तक स्कूल से निकाला नहीं जाएगा।
7. किसी बच्चे को शारीरिक सजा या मानसिक यंत्रणा नहीं दी जाएगी। ऐसी सजा देने वालों के खिलाफ अनुशासनिक कार्यवाही की जाएगी।
8. शिक्षक को विद्यालय में अपनी उपस्थिति और नियमितता बनाए रखनी होगी। पूरी पाठ्यचर्या को निर्धारित समय में पूरा करना होगा। प्रत्येक बच्चे की अधिगम योग्यता का आकलन करना होगा और उसी के अनुसार आवश्यक निर्देश देने होंगे। शिक्षक को अभिभावकों से नियमित बैठकें करनी होंगी और अभिभावकों को उनके बच्चों की उपस्थिति में नियमितता, सीखने की योग्यता, सीखने में की गई प्रगति और बच्चे के बारे में कोई भी अन्य सार्थक सूचना से अवगत कराना होगा।
9. कोई भी शिक्षक जनगणना, आपदा राहत कार्य या चुनाव कार्य के अलावा किसी गैर-शैक्षिक कार्यों के लिए नहीं भेजा जाएगा।
10. कोई भी शिक्षक निजी ट्यूशन/शिक्षण नहीं करेगा।

### अध्याय-5 'पाठ्यचर्या एवं आरंभिक शिक्षा की समाप्ति' से—

इस अध्याय की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

1. आरंभिक शिक्षा के लिए पाठ्यचर्या और मूल्यांकन विधियाँ किसी अकादमिक प्राधिकरण (Academic Authority) द्वारा निर्धारित

की जाएँगी जिसका ब्यौरा उपयुक्त सरकार ने अधिसूचना में जारी कर दिया है।

2. अकादमिक प्राधिकारी पाठ्यचर्या और मूल्यांकन प्रविधियों का निर्धारण करते समय निम्नलिखित बिंदुओं को ध्यान में रखेंगे—
  - (अ) संविधान में दिए मूल्यों का परिपेक्ष्य;
  - (ब) बच्चों का सर्वांगीण विकास;
  - (स) बच्चों के ज्ञान, क्षमता तथा प्रतिभा का निर्माण;
  - (द) शारीरिक तथा मानसिक योग्यताओं का पूर्ण रूप से विकास;
  - (य) गतिविधियाँ, खोज और अन्वेषण की सहायता से बाल-केंद्रित और बाल-मित्रवत् तरीके से अधिगम;
  - (र) शिक्षण का माध्यम, जहाँ तक व्यवहारिक हो, बच्चों की मातृभाषा हो;
  - (ल) बच्चों को डर, सदमें और चिंता से दूर करना और उनके विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति में मदद करना;
  - (व) बच्चों के ज्ञान की समझ तथा उसका अनुप्रयोग करने की योग्यता का सतत एवं व्यापक मूल्यांकन;
3. आरंभिक शिक्षा पूरी होने तक किसी भी बच्चे को बोर्ड परीक्षा उत्तीर्ण करने की आवश्यकता नहीं होगी।

### अध्याय-6 'बच्चों के अधिकार की रक्षा' से—

इस अध्याय के महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं—

- राष्ट्रीय बाल-अधिकार रक्षा आयोग तथा राज्य बाल अधिकार रक्षा आयोग पहले से ही निर्धारित कार्यों के साथ-साथ निम्नलिखित कार्य भी करेंगे—

1. इस अधिनियम के अन्तर्गत दिए गए अधिकारों की रक्षा के तरीकों की जाँच तथा समीक्षा और इनके प्रभावी क्रियान्वयन के लिए तरीकों की संस्तुति;

(अ) मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा का बच्चे का अधिकार से संबंधी शिकायतों की जाँच।

(ब) बाल अधिकार रक्षा अधिनियम के अंतर्गत सुझाए गए आवश्यक कदम उठाना।

### अध्याय-7 'मिश्रित' से—

अध्याय-7 के मुख्य बिंदु निम्नलिखित हैं—

1. केंद्र सरकार उपयुक्त सरकार अथवा स्थानीय प्राधिकरण को इस अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने के उद्देश्यों से उपयुक्त दिशा निर्देश दे सकती है।

2. उपयुक्त सरकार स्थानीय प्राधिकरण या विद्यालय प्रबंधन समिति को इस अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने हेतु उचित दिशा-निर्देश दे सकती है।

3. स्थानीय प्राधिकरण विद्यालय प्रबंधन समिति को इस अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने के लिए उचित दिशा-निर्देश दे सकता है।

### अनुसूची

इस अधिनियम की अनुसूची में विद्यालय के लिए मानक दिए गए हैं जिसमें कक्षा एक-से-कक्षा पाँच तक प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात में शिक्षकों की संख्या निम्न प्रकार से निर्धारित की गई है—

इसी अनुसूची में विद्यालय भवन के लिए भी मानक निर्धारित किए गए हैं। विद्यालय में सभी ऋतुओं के लिए उपयुक्त भवन होना चाहिए—

### अनुसूची

#### विद्यालय के लिए मानक और प्रमाणक

	प्रवेश लेने वाले बच्चों की संख्या	शिक्षकों की संख्या
(अ) कक्षा एक से कक्षा पाँच तक	60 तक	2
	61 से 90 तक	3
	91 से 120 तक	4
	121 से 200 तक	5
	150 से ऊपर	5+ एक मुख्य अध्यापिका
	200 से ऊपर	विद्यार्थी-शिक्षक अनुपात (मुख्य अध्यापिका को छोड़ते हुए) 40 से ऊपर नहीं जाना चाहिए।
(ब) कक्षा छह से कक्षा आठ तक	(1) प्रति कक्षा कम-से-कम एक शिक्षिका ताकि कम-से-कम एक शिक्षिका, जैसे- (अ) विज्ञान और गणित (ब) सामाजिक विज्ञान (स) भाषाओं के लिए हो	
	(2) कम-से-कम एक शिक्षक प्रति 35 बच्चों के लिए हो	
	(3) जहाँ बच्चों की संख्या 100 से ऊपर है: (i) एक पूर्णकालिक मुख्य अध्यापक; (ii) अंशकालिक अनुदेशक (अ) कला शिक्षा (ब) स्वास्थ्य एवं शारीरिक शिक्षा (स) कार्य शिक्षा	

1. कम-से-कम एक कक्षा कक्ष प्रत्येक शिक्षक के लिए तथा एक कक्ष जो मुख्य अध्यापक का कक्ष तो हो ही साथ ही उससे कार्यालय और संग्रहण कक्ष का भी काम लिया जा सके।

2. बाधा-मुक्त पहुँच।
3. लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग शौचालय।
4. सभी बच्चों के लिए सुरक्षित और पर्याप्त पीने के पानी की व्यवस्था।
5. एक रसोईघर जहाँ मध्याह्न भोजन पकाने की व्यवस्था हो, और
6. खेल का मैदान।

इसके साथ ही यह अनुसूची यह भी निर्धारित करती है कि एक अकादमिक वर्ष में कम-से-कम कितने कार्यकारी दिवस होंगे, प्रत्येक शिक्षक को प्रति सप्ताह कम-से-कम कितने घंटे कार्य करना होगा, सीखने-लिखने के उपकरण, पुस्तकालय व खेल-सामग्री के मानक भी इसमें दिये गए हैं। इस अधिनियम के अनुसार यह सूची परिवर्तनीय है।

‘शिक्षा का अधिकार अधिनियम’ के सात अध्याय और एक अनुसूची एक ओर तो परिवर्तन की साफ़ हवा की ओर इशारा करते हैं तो दूसरी ओर बहुत से मुद्दे और चुनौतियाँ भी सामने रखते हैं जिन्हें हमारा शैक्षिक समुदाय अन्य महत्वपूर्ण समुदायों (राजनीतिक, सामाजिक, व्यावसायिक इत्यादि) के साथ मिल बैठकर साझा कर सकता है और रास्ते निकाल सकता है ताकि परिवर्तन की हवा बिना बाधा के रहे।

यह कानून 6-14 वर्ष के सभी बच्चों को विद्यालय तथा विद्यालयी शिक्षा निशुल्क मुहैया कराने का वादा करता है। आठवीं तक के बच्चों को परीक्षाओं के बोझ और फेल होने से मुक्ति देने का प्रावधान देता है। अभिभावकों को तंग करने वाले

बहुत से प्रचलनों जैसे-स्कूलों द्वारा ली जाने वाली कैपिटेशन फीस पर लगाम लगता है तथा बच्चों के दाखिले के समय अभिभावकों को इंटरव्यू जैसी मानसिक यातना से छुटकारा देता है। यह अधिनियम शिक्षकों को जनगणना, चुनावी ड्यूटी के अलावा अन्य अतिरिक्त कार्यों से राहत देता है।

यह अधिनियम जो चुनौतियाँ हमारे सामने रखता है उनमें राज्य और केंद्र सरकार पर इस अधिनियम को लागू करने में आने वाला वित्तीय दायित्व और आवश्यक संसाधनों को उपलब्ध कराना तो शामिल है ही, लेकिन जो मुख्य चुनौतियाँ हमारी शिक्षा व्यवस्था के सामने हैं उनमें शामिल हैं एक बड़ी संख्या में शिक्षकों की भर्ती, ऐसी पाठ्यचर्या जो सभी बच्चों को तुलनीय गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान कर सकें, शिक्षकों का प्रशिक्षण जो ऐसी पाठ्यचर्या को कक्षा में साकार कर सके।

आने वाले समय में प्रत्येक विद्यालय और प्रत्येक कक्षा एक लघु भारत का स्वरूप लिए होगी। यहाँ हर पहलू पर विविधता होगी, भिन्न-भिन्न उम्र वर्ग के, विविध पृष्ठभूमियों के बच्चे एक साथ सीखने को तत्पर होंगे। बच्चों की अलग-अलग भाषाएँ और संस्कृतियाँ होंगी, उनकी क्षमताएँ भी अलग होंगी। हमारे शिक्षकों से यह अपेक्षा होगी कि वे न केवल सभी बच्चों की कक्षा में भागीदारी सुनिश्चित करें, बल्कि प्रत्येक बच्चे को सीखने का आनन्दपूर्ण अनुभव भी दें। वह हर बच्चे की पृष्ठभूमि और संदर्भ को जानें और उससे जुड़ते हुए पाठ्यवस्तु की मदद से बच्चों को पढ़ाएँ।

कैसे होगा ये सब? आज हमारी कक्षाओं में जैसे शिक्षक हैं, वे तो बच्चों के समूह को

होमोजिनियस (एक-सा) मानकर चलने वाले हैं। वे तो मानते हैं बच्चे 'कोरी स्लेट' हैं उस पर जो कुछ लिखना है शिक्षक को ही लिखना है। बच्चों के संदर्भों से तो उन्हें कोई लेना-देना ही नहीं है। हमारे शिक्षक-शिक्षा कार्यक्रमों में भी व्यवसायिकता का अभाव है। ये कार्यक्रम शिक्षकों को यात्रिक तरीके से शिक्षित करते हैं—सिद्धांतों और व्यवहारिकता में एक बड़ी खाई के साथ। सिखाते समय की परिस्थितियाँ कुछ और होती हैं और सीखने के बाद विद्यालयों का यथार्थ कुछ और।

यह कानून प्रभाव में आ चुका है और हमारी व्यवस्था अभी जागी नहीं है। शिक्षक-शिक्षा कार्यक्रमों में परिवर्तन की माँग पिछले छह दशकों से की जा रही है और आज भी ढाक के वही तीन पात। सेवा पूर्व की शिक्षक-शिक्षा या सेवाकालीन दोनों में ही व्यवसायिकता का अभाव है। कैसे दी जाएगी सभी बच्चों को गुणवत्तापरक शिक्षा? यह सरोकार विचारणीय है। शिक्षा के विभिन्न मंचों पर यह सरोकार व्यक्त किया जा रहा है। शिक्षक-शिक्षा के पाठ्यक्रमों को बदलने के प्रयास किए जा रहे हैं। आरंभिक शिक्षा हेतु शिक्षक तैयार करने के नए मॉडल तलाशे जा रहे हैं। स्कूली शिक्षा में परिवर्तन यह संकेत दे रहे हैं कि भविष्य में स्कूलों में आरंभिक शिक्षा ले रहे बच्चों के शिक्षक को नया रूप लेना होगा। उसे समझना होगा हरेक बच्चा अपने आप में अलग है और अपनी गति से सीखता है। प्रत्येक बच्चे की शैक्षिक आवश्यकता को पूरा करने का उत्तरदायित्व उसके कंधों पर है। किसी भी कक्षा में वर्ष के किसी भी समय बच्चे का प्रवेश और उस बच्चे को अन्य बच्चों के समकक्ष ले जाना उस शिक्षक के लिए चुनौती होगी।

एक और बड़ी चुनौती है पाठ्यचर्या की। आज ज्यादातर राज्यों में विद्यालयों में जिस तरह के पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें लागू हैं वे बच्चों के संदर्भों पर ध्यान नहीं देतीं। मानक भाषाओं में विकसित ये पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें पहली पीढ़ी के विद्यालय आने वाले बच्चों को कैसी शिक्षा देगी यह सोचने का विषय है। एक ही कक्षा में अलग-अलग उम्र और पृष्ठभूमि के बच्चे होंगे, इनको पढ़ाने के लिए कैसी सामग्री बनाई जाएगी और इसे कैसे उन बच्चों तक पहुँचाया जाएगा यह भी मनन का विषय है। कुछ राज्यों में इस तरह के विशेष प्रशिक्षण पैकेज विकसित करने के प्रयास शुरु हो गए हैं। परन्तु इन प्रयासों के बावजूद निम्नलिखित कुछ तथ्यों को नकारा नहीं जा सकता।

भारत एक विशाल देश है जिसमें विभिन्न व्यवस्थाओं के लिए काम कर रही संस्थाओं का अभाव नहीं है। मानव संसाधन की प्रचुरता तो भारत की विशेषता कही जाती है। फिर भी व्यवस्थाओं के ठीक से काम न करने के कारणों में कुछ स्पष्ट कारण नजर आते हैं—व्यापक दिशा निर्देशों की कमी, सुधार लागू करने की ढीली नीति, निगरानी का अभाव, कमियों को छिपाना, भूमिकाओं में अस्पष्टता। हमारे यहाँ दिशा-निर्देश तो बनाए जाते हैं लेकिन वे बहुत हद तक अस्पष्ट होते हैं। व्यवस्थाओं में काम करने वाले लोग उन्हें समझ नहीं पाते और ऊपर से इन्हें लागू करने की दुलमुल नीति इनका कोई प्रभाव व्यवस्था पर पड़ने ही नहीं देती। सुधार लाने के लिए दिशा निर्देश बने, लागू नहीं हो पाए तो आगे इनकी निगरानी भी नहीं होती है। यदि गाहे-बगाहे कहीं पूछ लिया गया

या निरीक्षण हो गया तो कमियों को बखूबी छिपाकर 'काम अच्छे ढंग से हो रहा है' इसकी व्याख्या कर दी जाती है। निरीक्षण करने वाले संतुष्ट हो जाते हैं।

उच्च स्तरों पर परिवर्तन की सफलता का डंका पीटा जाता है जबकि भूमि स्तर पर कोई परिवर्तन नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं की भूमिकाओं में भी अस्पष्टता है। कोई एक संस्था वर्षों से स्कूली पाठ्यचर्या के क्षेत्र में कार्य कर रही है, तभी अचानक एक दूसरी संस्था भी बाजार बलों के प्रभाव में आकर इस क्षेत्र से जुड़ जाती है। वर्षों की मजबूत पृष्ठभूमि के अभाव में वैश्वीकरण को संबोधित करते हुए अन्य तार्किक आधार के बिना इस नई संस्था द्वारा बनाई गई शैक्षिक सामग्री तथा कार्यक्रम प्रारंभिक तौर पर तो लोगों द्वारा सराहे जाते हैं और बाद में इसका खोखलापन सामने आते ही इसका उपयोग बन्द हो जाता है। परन्तु तबतक शैक्षिक व्यवस्था में एक बार और असंमजस की स्थिति आ जाती है। अतः यह आवश्यक है कि शैक्षिक संस्थाओं की भूमिकाओं में स्पष्टता लाई जाए, व्यापक दिशा निर्देश बनाए जाने के बाद सुधारों को लागू करने के प्रयत्न आरम्भ हों। इसकी सख्त निगरानी हो और साथ-साथ ही व्यवस्था के प्रत्येक जुड़े हुए पहलु में सुधार लाया जाए।

इस कानून में भी कई स्थानों पर स्पष्ट दिशा निर्देश का अभाव है। यही कारण है कि शिक्षा व्यवस्था में विभिन्न पहलुओं से जुड़े अलग-अलग लोग इसका अलग तरह से विश्लेषण कर रहे हैं

और टिप्पणियाँ दे रहे हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा के नतीजों के बारे में विशेषज्ञों का कहना है कि—

'शिक्षा का अधिकार' का यह अधिनियम स्कूली शिक्षा और उसके भौतिक ढाँचे के अधिकार की गारंटी तो लेता है, लेकिन उसके परिणामों की गारंटी नहीं लेता। इस अधिनियम में कहा गया है कि प्रारंभिक शिक्षा पूरी होने तक अर्थात् कक्षा एक से कक्षा आठ तक किसी भी विद्यार्थी को कहीं बीच में रोकना नहीं जाएगा। लेकिन नतीजों का कोई ख्याल नहीं है। हाल में कुछ राज्यों में कक्षा छह के विद्यार्थियों के नंबरों के औसत प्रतिशत के बारे में एन.सी.ई.आर.टी. की रिपोर्ट चौंकाने वाली है। रिपोर्ट के अनुसार आठवीं तक पहुँच चुके विद्यार्थी भी भाषा और गणित में खराब प्रदर्शन करते हैं। दूसरी तरफ यह विधेयक अभिभावकों को यह भी हक नहीं देता कि वे अपने बच्चों को स्वेच्छा से किसी कक्षा में रोक सकें। इस मामले में दुनिया भर के देशों में एक अलग किस्म का चलन है कि उदाहरण के लिए अमेरिका के स्कूलों के लिए कानून है कोई बच्चा पीछे न छूट जाए (नो चाइल्ड लेफ्ट बिहाइंड)। इसके अनुसार कक्षा तीन और आठ के लिए पढ़ने और गणित के सवाल करने का एक स्वतंत्र आकलन करने का प्रावधान है। अगर स्कूल आरंभिक ट्यूशन, स्कूल के पुनर्गठन और शिक्षकों के प्रशिक्षण के माध्यम से न्यूनतम स्कोर हासिल करने में नाकाम रहा तो उसके लिए दंड का विधान है। इसलिए ऐसा नहीं होना चाहिए कि हमने सौ फीसदी



*हाजिरी तो हासिल कर ली पर शिक्षा और शिक्षण की गुणवत्ता घटिया रही*<sup>16</sup>

इसके अतिरिक्त निजी स्कूलों में बच्चों के प्रवेश, मातृभाषा शिक्षा का माध्यम बने, इत्यादि कई मुद्दों पर कानून स्पष्ट नहीं है। इनमें स्पष्टता लाने तथा एक सामान्य समझ बनाने की जरूरत है। हमारी कानून व्यवस्था को भी बच्चों के स्वभाव, उनकी शैक्षिक आवश्यकताओं, बच्चों की चिंता, बच्चों पर दबाव, पाठ्यचर्या का लचीलापन जैसी कई अवधारणाओं के बारे में सही दिशा-निर्देश देने की आवश्यकता है।

अन्त में, यही कहा जा सकता है इस कानून द्वारा सभी बच्चों के लिए गुणवत्तापरक शिक्षा और विद्यालय उपलब्ध कराने का सरकार द्वारा

जो प्रयास किया जा रहा है उसमें हम सभी को शामिल होना है, सिर्फ आलोचक या समर्थक के रूप में नहीं बल्कि एक विवेचक के रूप में। कानून की खामियों को सिर्फ खामियाँ समझकर समस्याएँ नहीं बढ़ानी हैं वरन् इस पर संवाद कर नए रास्ते निकालने हैं। कानून में जो खूबियाँ वे किस प्रकार यथार्थ रूप में लागू हों इसके भी प्रयत्न करने हैं। अभी तो हमारा सबसे पहला लक्ष्य होना चाहिए इस कानून के प्रचार-प्रसार का। हम स्वयं भी इसे समझें और दूसरों को भी समझने में मदद करें तभी इनके विभिन्न पक्षों को लागू करने में हम सब शिक्षाविद्, शिक्षक, नीति निदेशक, अभिभावक, विषय विशेषज्ञ तथा विद्यार्थी इसे लागू करने में सहायक हो सकेंगे।

<sup>16</sup> एन के. सिंह, 'शिक्षा के अधिकार से आगे .....', (हिंदुस्तान—दैनिक समाचार पत्र, 4 अगस्त 2009).

# खिलौनों का समाजशास्त्र\*

सचिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

प्रस्तुत ललित विचारात्मक लेख में खिलौनों की सर्वव्यापकता और मानव जीवन में अनिवार्यता बताई गई है। इसमें खिलौनों को उपमा की तरह नहीं वरन् खिलौने के रूप में ही लिया गया है। खिलौने और सामाजिकरण, विभिन्न सभ्यताओं में प्रचलित विभिन्न खिलौने, भिन्न सामाजिक आर्थिक स्थिति के अनुसार बच्चों के खिलौनों में अंतर, बच्चों द्वारा खुद चुने गए व बड़ों द्वारा उन्हें दिए गए खिलौने आदि के उद्देश्यों में अंतर की चर्चा की गई है। खिलौनों के माध्यम से बच्चों को पूर्वाग्रहयुक्त भूमिकाओं के लिए तैयार करने का प्रयास, सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा व समझ उत्पन्न करने में खिलौने की भूमिका भी बताई गई है। यह भी वर्णन है कि पहले के कस्बे-देहात के बच्चे टूटी चूड़ियों, कंकड़-पत्थर अर्थात् बिना किसी उपकरण के अपने लिए अकेले ही खेल रच लेते थे। किन्तु यदि आज के सभ्य समाज के बच्चों के समूह को बिना खिलौने के कुछ भी करने को छोड़ दिया जाए तो वे तोड़-फोड़, मुक्के-बाजी, मारकाट आदि हिंसात्मक क्रियाओं की रचना में ही मन लगाएँगे। यह भी बताया है कि विभिन्न प्रदेशों के पारंपरिक खिलौने वहाँ की सामाजिक स्थिति व कौशल का दर्पण होते थे। खिलौने केवल खेल नहीं, ये समाज और संस्कृति से जुड़ी एक रचनात्मक कड़ी है।

खिलौनों से हम सभी खेलते हैं। रूपक के तौर पर इस बात को बढ़ाएँ तो यहाँ तक कह सकते हैं कि जहाँ निर्धन लोग धूल-मिट्टी से, बबूल की फली और इमली के चियों (बीज) से, पत्थर के टुकड़ों से, ठीकरों से या गुल्ली-डंडे से खेलते हैं, वहाँ अमीर लोग न केवल यंत्रचलित खिलौनों से और रेडियो या टेलीफोन आदि से खेलते हैं, राजा-महाराजा देशों और सेनाओं से और सम्राट साम्राज्यों से खेलते थे। अब वैसे साम्राज्य नहीं हैं, लेकिन बड़ी सत्ताएँ आज भी

\*'केंद्र और परिधि', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1984, से साभार प्रकाशित.

बममार विमानों, प्रक्षेपास्त्रों और अणु विस्फोटों से खेलती हैं; महासागरीय द्वीपों की प्रजाओं के भाग्य से खेलती हैं लेकिन हम रूपक में बात नहीं कर रहे हैं, हम सीधे-सीधे खिलौनों की ही बात करना चाहते हैं। और वयस्कों के खिलौनों की नहीं, बच्चों के खिलौनों की ही। इन खिलौनों के समाजशास्त्र की चर्चा करना क्या ख्वाहमख्वाह खेल को शास्त्र में उलझाना नहीं है? बच्चे के विकास में खिलौनों का स्थान होता है, इतना तो सभी आसानी से मान लेंगे। उससे आगे बढ़कर थोड़ी बाल मनोविज्ञान की भी चर्चा की जा सकती है, लेकिन समाजशास्त्र.... हाँ, समाजशास्त्र, लेकिन समाजशास्त्र तक पहुँचने से पहले बच्चे के विकास की और उसके मनोविज्ञान की चर्चा से ही शुरु करें।

कुछ खिलौने बच्चे स्वयं चुनते हैं और कुछ उनके लिए बड़ों के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं—माँ-बाप द्वारा या अन्य सगे-संबंधियों द्वारा। आजकल तो बच्चे के जन्मदिन के बदले बर्थ डे मनाने का चलन हो गया है, जिसके कारण उनसे बड़ों को प्रणाम करा कर आशीर्वाद दिलाने की जगह जलसा करके केक पर लगी मोमबत्तियाँ बुझाने और खिलौनों के अंबर लगाने की प्रथा चल पड़ी है। लेकिन अब भी हर स्तर पर यह सही है कि बच्चे कुछ खिलौने अपने आप चुनते हैं और कुछ उनके लिए उपलब्ध करा दिये जाते हैं। कुछ बच्चे ठीकरें, काँच के रंगीन टुकड़े, माचिस की डिब्बियाँ, पन्नी या कंचे जुटाकर रखते हैं, तो कुछ, जिन्हें उनके माँ-बाप इसकी सुविधा देते हैं, अपनी पसंद से हवाई बंदूक या मोटरगाड़ी या जहाज़ और टैंक आदि ले सकते हैं, इसी तरह

अलग-अलग स्तरों पर बच्चों को अलग-अलग किस्म के और अलग-अलग कीमत के, अलग-अलग जटिलता के खिलौने दिये जाते हैं।

खिलौने सबसे पहले तो बच्चों को उलझाए रखते हैं। माँ-बाप को इसमें एक सुविधा दिखती है कि बच्चे उनका मगज नहीं चाट रहे हैं। मगर उस बात को छोड़ें। खिलौने से खेलते हुए बच्चे एक तरफ़ अपनी सहज प्रवृत्तियों का प्रदर्शन भी करते हैं तो दूसरी ओर अपनी बहुत-सी शक्तियों का विकास भी अनजाने करते चलते हैं। लंबाई और चौड़ाई, ऊँचाई और मोटाई, सीधे और टेढ़े, समतल और ढालू, ठोस और नरम और लचीले, चिकने और खुरदुरे, दूर और पास, ऊँचे और नीचे, हलके और भारी, क्रिया और प्रतिक्रिया आदि का बोध उन्हें खिलौनों से खेलते हुए ही होता है। अपने विभिन्न अंगों के सामर्थ्य का भी उन्हें ज्ञान होता है—उसकी पहुँच का भी और उसकी सीमा का भी। कह सकते हैं कि खिलौनों के सहारे समस्त गोचर संसार से बच्चे का संबंध जुड़ता है—गोचर संसार की पहचान और उसके पर्यवेक्षण के लिए खिलौने एक सहज साधन हैं—इतने सहज हैं कि इस स्तर की शिक्षा का श्रेष्ठ उपकरण बन जाते हैं। इसी निमित्त से स्वयं अपनी पहचान उसमें विकसित होती है और समस्त वास्तविक जगत से उसका एक रिश्ता जुड़ता है। बच्चे के खेल उसके यथार्थबोध के निर्माण में योग देते हैं।

सामूहिक खेलों में इन गोचर अनुभवों से आगे बढ़कर और भी कई तरह की शिक्षा बच्चे को मिल जाती है जिन्हें उसकी सामाजिकता की नींव माना जा सकता है। सहयोग और प्रतियोगिता, अपने

अधिकारों के दावे और दूसरे के अधिकारों का सम्मान, नियमबद्ध आचरण आदि की बुनियादी शिक्षा भी उसे खेल में मिलती रहती है।

अब हम बाल मनोविज्ञान की बात से आगे बढ़कर खिलौनों के द्वारा सामाजिक दीक्षा के क्षेत्र में आ गए हैं, यानी खिलौनों के समाजशास्त्र की बात आरंभ हो गयी है। लेकिन खिलौनों को सिर्फ बच्चों के साथ न जोड़कर हम पूरे सांस्कृतिक संदर्भ में ही रखना चाहते हैं। खिलौने हर सभ्यता में होते हैं; लेकिन उसके साथ ही हर सभ्यता में कुछ खिलौने और कुछ खेल 'अच्छे' माने जाते हैं और दूसरे खिलौने या खेल 'घटिया'। खेलों के बारे में समाज की धारणाओं से हम समाज की सांस्कृतिक दृष्टि के बारे में तो अनुमान लगा ही सकते हैं; यह भी आसानी से समझ सकते हैं कि समाज की मूल्यदृष्टि कैसे जाने या अनजाने बच्चे के मूल्यबोध को विशेष दीक्षा या रुझान दे रही है। कुछ समाजों में ऐसे खेलों को महत्त्व दिया जाता है जिनमें प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा के भाव बढ़ें, जबकि दूसरे समाजों में यही बार-बार सुनने को मिलेगा कि 'सबको मिलकर खेलना चाहिए', 'साथियों से होड़ नहीं करनी चाहिए'। स्पष्ट ही ये दो मूल्य दृष्टियाँ दो अलग-अलग प्रकार की संस्कृतियों को प्रतिबिंबित करती हैं। यह नहीं कि कोई संस्कृति निरपवाद रूप से एक प्रवृत्ति को मान्यता देती है, पर अपेक्षिक रूप से कुछ को वरीयता या प्रधानता तो दी ही जाती है और यह हो नहीं सकता कि बच्चों के खेलों को नियंत्रित करती हुई ये उनके चरित्र को, स्वभाव को अपने-अपने साँचे में न ढालें।

लड़कों और लड़कियों के खिलौने अलग-अलग होते हैं। उनकी विकासमान रुचियाँ भी अलग-

अलग लीकें पकड़ती हैं और माता-पिता उन्हें जो खिलौने देते हैं उनका चयन करते हुए इस बात का ध्यान रखते हैं कि उन्हें वैसे ही खिलौने दिये जाएँ जिनसे उनका विकास उन्हीं दिशाओं में हो जिन्हें माँ-बाप वांछनीय समझते हैं; उनके वैसे ही संस्कार पड़ें जैसे माँ-बाप उनके विकास के लिए उपयोगी समझते हैं। यहाँ भी यह नहीं कि अभिभावक प्रकृति के विरुद्ध जाना चाहते हैं; जैविक या प्राकृतिक विकास के ऊपर वे एक स्पष्ट सांस्कृतिक छाप भी गहरी डाल देना चाहते हैं, एक सामाजिक संस्कार देना चाहते हैं। 'लड़के गुड़ियों से नहीं खेलते', 'लड़के रसोई का खेल नहीं खेलते', 'लड़के घरोंदे नहीं बनाते', 'लड़कियाँ कबड्डी नहीं खेलतीं', 'पेड़ों पर नहीं चढ़तीं', इत्यादि। लगातार लड़कों और लड़कियों द्वारा खेले जाने वाले खेलों और उनके लिए सुलभ किए जाने वाले खिलौनों के नियंत्रण से लड़कों को उन कर्मों की ओर प्रेरित किया जाता है, उन कुशलताओं की दीक्षा दी जाती है, जो युवक के लिए उपयोगी मानी जाती हैं; और इसी प्रकार लड़कियों को निरंतर उन दक्षताओं की ओर प्रेरित किया जाता है जो आगे चलकर युवती या परायी घर की बहू के या कालांतर में माता के लिए उपयुक्त होंगी। इस प्रकार खिलौनों के सहारे बच्चे धीरे-धीरे उस भूमिका में उतारे जाते हैं उस 'रोल' में ढलते रहते हैं, जो वयस्क होने पर उनका होने वाला है—स्वयं उनकी दृष्टि में नहीं, बल्कि उनके माता-पिता, अभिभावक और समाज की दृष्टि में, बच्चों को समाज में उस 'रोल' के लिए तैयार किया जा रहा है जो समाज की उस समय की सभ्यता की दृष्टि से उसका उचित

रोल होगा। बहुत-सी चीजों को हम 'सहज प्रवृत्ति' मानते हैं जब कि वास्तव में वे सांस्कृतिक परिवेश का परिणाम होती हैं। उदाहरण के लिए, पुरुष और स्त्री की शरीर-रचना में ऐसा भेद तो है कि स्त्री की चाल स्वाभावतया पुरुष की अपेक्षा लचीली और लयमय हो, लेकिन ऐसा कोई भेद नहीं है कि पुरुष सीना तानकर चले, स्त्री सकुचाती हुई। ये अंतर प्रकृत नहीं, सांस्कृतिक दीक्षा का परिणाम हैं। इस तरह के अनेक अंतर होते हैं जो लड़के या लड़की के संस्कार में इतने गहरे बोये जाते हैं कि सहज प्रवृत्ति जैसे जान पड़ें, लेकिन जो होते हैं सांस्कृतिक दबाव और दीक्षा का परिणाम ही और यह सांस्कृतिक 'साँचा' उसी समय से काम में आने लगता है जबसे लड़कियाँ-लड़के खिलौनों से खेलना आरंभ करते हैं। हम यह तो कह सकते हैं कि आधुनिक समाज में इस तरह के अंतर लगातार कम होते जा रहे हैं, लेकिन अगर यह बात सच भी है तो उसका मतलब यही है कि आधुनिक सभ्यता में खेल-खिलौनों के द्वारा जो दीक्षा दी जाती है उसमें इन भेदों पर जोर नहीं दिया जाता, बल्कि कुछ दूसरे प्रकार के रोल अदा करवाने का प्रशिक्षण लड़के-लड़कियों को दिया जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि बदल गयी है। सांस्कृतिक मूल्य दूसरे हैं, लेकिन खिलौने अब भी सांस्कृतिक उपकरण हैं, बच्चों को एक विशेष समाज के लिए उपयोगी बनाने का, एक विशेष प्रकार के नागरिक बनाने का काम कर रहे हैं, एक विशिष्ट साँचे में ढालने का काम कर रहे हैं।

पारंपरिक खिलौनों की ओर ध्यान देने से और भी बहुत-सी चीजें स्पष्ट हो जाती हैं।

खिलौनों के माध्यम से बच्चों का संबंध बाह्य या गोचर संसार से बनता और निरूपित होता हो इतना ही नहीं है, उनका आभ्यंतर संसार भी उससे बनता है और बनाया जाता है। नाना प्रकार के पूर्वाग्रहों की भी दीक्षा उन्हें मिलती है और दी जाती है। खिलौनों के सहारे बच्चों को मानव समाज या किसी देश की सभ्यता में ही दीक्षित नहीं किया जाता बल्कि जातियों, वर्गों, पेशों आदि के सारे पूर्वाग्रह भी खिलौनों के माध्यम से उनके मानस में गहरे उतार दिये जाते हैं। खिलौनों के सहारे बच्चा केवल अच्छा मनुष्य ही नहीं बनता, अच्छा हिंदुस्तानी या अंग्रेज या रूसी या जापानी भी बनता है और देशगत संस्कारों के साथ-साथ अपने सारे वर्गगत रुझान और पूर्वाग्रह भी ओढ़ लेता है। खिलौनों के सहारे अफ़सर का बेटा अफ़सरी के पूर्वाग्रह अपनाता है, व्यापारी का बेटा व्यापारी के, सिपाही का बेटा सपाही के, और किसान का बेटा किसान के। अच्छा मनुष्य या अच्छा हिंदुस्तानी ही नहीं, अच्छा इंजीनियर, अच्छा कारीगर और अच्छा किसान बनाने में खिलौनों का योग होता है।

हमारे देश की पारंपरिक सभ्यता में खिलौने इतना ही नहीं करते, खेल-ही-खेल में यह भी संभव बना देते हैं कि ब्राह्मण का बेटा न केवल ब्राह्मण मूल्य अपना ले बल्कि आजकल के ब्राह्मण के सारे पूर्वाग्रह भी अपना ले—उसी की लालसाएँ और दुश्चिंताएँ और तिकड़म, आत्मरक्षा की युक्तियाँ आदि सब! इसी प्रकार जाट का बेटा जाट मनोवृत्ति की दीक्षा पा लेता है और बनिये का बेटा बनिये की, या कायस्थ का बेटा कायस्थ की, इत्यादि। खिलौने, खेल, कहावतें, चुटकुले,

गीत, 'साँग' और 'तमाशा'—सारी वाचिक और दृश्य परंपरा एक सिलसिलेवार शिक्षाक्रम में जुड़ जाती हैं और सारे जातिगत, कर्मगत, प्रदेशगत पूर्वाग्रह इस शिक्षा के अंग होते हैं। खेलों और खिलौनों के सहारे इस तरह के संस्कार पाए हुए बच्चे बड़े होकर शिक्षा या तर्कबुद्धि के सहारे भले ही उदारतर मूल्यों को अपनाने की बात करें, उनके अनजाने उनका आचरण इन पूर्वाग्रहों से नियंत्रित और निर्धारित होता रहता है। वे बातें करते हैं 'मानव समाज' की और 'मानव न्याय' की, लेकिन व्यवहारतः पक्षधर बने रहते हैं उस अंश समाज या वर्ग या जाति की जिसके पूर्वाग्रह में वे दीक्षित हुए हैं।

यह नहीं कि ऐसा सर्वत्र या हमेशा बेईमानी या पाखंडीपन के कारण होता है। असल में ये संस्कार इतने गहरे होते हैं और हमारा भावना-जीवन हमारे तर्क-जीवन पर इतनी आसानी से हावी हो जाता है कि जबतक कोई बहुत सतर्क होकर अपने आचरण की परीक्षा न करता रहे और पूर्वाग्रहों से अपने को उबारने के लिए लगातार कठिन तपस्या न करता रहे, तबतक अपनी चेतना को उनके दबाव से बचाए रख ही नहीं सकता। वास्तव में यही इन पूर्वाग्रहों की उपयोगिता भी है। अगर हम समाज को एक स्थिर और स्थायी ईकाई मान सकते तो कहते कि इन्हीं पूर्वाग्रहों के सहारे तो हर जाति, हर वर्ग अपना समाज निर्दिष्ट आचरण करता रहता है, अपना 'धर्म' निबाहता रहता है और समाज का उपयोगी और सहयोगी अंग बना रहता है। लेकिन समाज ऐसे स्थिर और स्थितिशील नहीं होते—और आधुनिक युग में हो ही नहीं सकते, बल्कि आज वैसी स्थितिशीलता

को कठमुल्लापन या प्रतिगामिता या भाग्यवादिता ही मानना होगा, तथापि पारंपरिक समाज में इस प्रकार पाए हुए पूर्वाग्रहों की एक सामाजिक उपयोगिता होती थी, और लिखे हुए नियमों अथवा विधि-विधानों के सहारे के बिना ही समाज का हर अंग, बिना संघर्ष के और नियम के भीतर अपना काम करता रहता था।

आज न केवल वैसी स्थिति नहीं है और ऐसे पूर्वाग्रह समाज की प्रगति में बाधक हैं, बल्कि आज समाज में संघर्ष भी अनिवार्य है और एक सीमा तक वांछनीय भी है। आधुनिक सभ्यता के खिलौने इस आवश्यकता के दबाव के साथ बहुत कुछ बदले भी हैं और नये खिलौने बहुत दूर तक नए नागरिक के निर्माण में योग दे सकते हैं—खिलौने और खेल उन्हीं प्रवृत्तियों और कौशलों को बढ़ावा देते हैं जो आधुनिक सभ्यता के संदर्भ में एक अच्छे नागरिक से अपेक्षित हैं—लेकिन खेद की बात यही है कि आधुनिक सभ्यता भी बहुत महँगी और उपकरणों के भार से लदी हुई है—और उसके खिलौने भी उतने महँगे हैं, उसके खेल भी उतने जटिल उपकरण माँगते हैं। जातक कथाओं के अनुसार प्राचीन काल में श्रेष्ठी के बेटे भी धूल से खेल लेते थे और एक व्यापारी के बेटे ने धूल से खेलते हुए ही एक मुट्ठी धूल उठाकर बोधिसत्त्व को दान दी थी (जिसके कारण कालांतर में उसे धरती का साम्राज्य मिला)। आज भी प्रौढ़ वय के अधिकतर लोग स्मरण करेंगे कि उनके बचपन में खेलने के लिए लंबे-चौड़े लवाजमात की कोई जरूरत नहीं होती थी और कस्बों-देहातों में तो बच्चे बिना किसी भी उपकरण

के अपने लिए खेल रच लेते थे। या तो यों कहें कि उस समय के प्रचलित खेल ही ऐसे थे कि उनके लिए साज-सामान की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। लेकिन आज? आज के बच्चे को वैसी स्थिति में छोड़ दीजिए तो वह अपने सामने केवल अपने को पाकर घबरा ही जाएगा। लगातार साज-सामान से (या दूसरों से) घिरे रहना उसके लिए मानो अनिवार्य हो गया है—क्या यही अपने आप में आज की सभ्यता पर एक टिप्पणी नहीं है? 50 वर्ष पहले भी गाँव-देहात में बच्चे आँखमिचौनी खेलते थे तो गाते थे—

*लुक-छिप जाना*

*मकई दा दाना*

*राजा दा बेटा आया जे*

जो स्पष्ट ही उस समय के किसान की ओर अनाज की वसूली के लिए निकले राजा के बेटे की मनोवृत्ति का प्रतिबिंबन करता है। आप चाहें तो यह परिणाम भी निकाल सकते हैं—और वह सही होगा—कि किसान में अनाज को छिपाकर रखने का संस्कार इतना गहरा था कि उसे सहज प्रवृत्ति ही माना जा सकता है। लेकिन आज के सभ्य समाज के आठ-दस बच्चों को बिना साज-सामान के छोड़ दीजिए और देखिए वे क्या गुल खिलाते हैं। वे सब मानों जंगल में खो जाएँगे और अकेले हो जाएँगे। और उस परिस्थिति में उन्हें शायद तोड़फोड़ के सिवा कुछ नहीं सूझेगा। हाँ, चाबी से चलने वाले खिलौने हों या टी.वी. पर भीड़-भड़क्के के खेल हों, मुक्केबाजी और मार-काट या और किसी तरह की हिंसा हो तब उनका मन खूब लगा रहेगा।

आजादी से पहले तक विभिन्न प्रदेशों के पारंपरिक खिलौने सस्ते भी मिलते थे, सुंदर भी होते थे, हस्तशिल्प के अच्छे नमूने भी होते थे यात्राओं से ऐसे खिलौने लाने का चलन भी था जिस से समाज का शिशु वर्ग सामाजिक ढाँचे से परिचित होता चलता। लखनऊ के खिलौने सारे देश में प्रसिद्ध थे और कला की दृष्टि से अद्वितीय थे। जयपुर की अपनी शैली थी और वहाँ के खिलौने भी दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। बनारस के लकड़ी के खिलौनों की अपनी एक परंपरा थी। नाथद्वारा के खिलौने अपने ढंग के अलग थे और यही उनका विशिष्ट आकर्षण था। आंध्र की अपनी शैली थी और खिलौनों के माध्यम थे। दक्षिण के यात्री प्रायः सरकंडे के गूदे के काँच मढ़े खिलौने लाते थे। कर्नाटक की अपनी शैली थी। बँगाल के अपने खिलौने थे बल्कि अन्य प्रदेशों की तरह वहाँ भी एक से अधिक परंपरा और शैलियाँ थीं। ओडिसा के अपने खिलौने थे। केरल नारियल के खोल और मूँज के अपने विशिष्ट ढंग के खिलौने बनाता था। आज ये सब अजायबघरों की वस्तुएँ हो गयी हैं।

निःसंदेह समाज बदलता है और उसे बदलना चाहिए और प्रतिमुखी होकर जीर्ण परंपराओं के लिए बिसूरने का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन खिलौने से बच्चे का संबंध केवल खिलौने और बच्चे तक ही सीमित नहीं है, बल्कि पूरे समाज और संस्कृति से जुड़ा हुआ है। इसलिए आज भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि एक समग्र रचनात्मक अंतःसंबंध के लिए खिलौनों के बारे में जो रचनाशील दृष्टि अपेक्षित है, क्या हम उसके लिए कुछ नहीं कर सकते।

## आसपास के परिवेश से शिक्षण (मध्य प्रदेश शासन की नई पहल)

लक्ष्मी नारायण मित्तल\*

प्रस्तुत लेख में 'पँच-प'-परिवार, परिवेश, परम्परा, पराक्रम, और पहचान के आधार पर स्कूली शिक्षा के महत्त्व को बताया गया है। शिक्षा का लक्ष्य 'आसपास से दूर अर्थात् परिचित से अपरिचित की ओर' की जानकारी व अनुभव उपलब्ध कराना होना चाहिए। प्रायः विश्व स्तरीय जानकारी कई माध्यमों से प्राप्त की जा सकती है, जिसका व्यक्ति के जीवन से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता और न ही व्यक्ति जीवन में उसका अधिक उपयोग कर पाता है। अतः शिक्षा को स्थानीय व निकटस्थ ज्ञान से जोड़ा जाना चाहिए जिसका विद्यार्थी से अधिक जुड़ाव होता है। स्थानीय परिवेश से शिक्षण देश, समाज को पुर्नस्थापित करने की अच्छी पहल है।

मध्य प्रदेश के लोकशिक्षा विभाग ने नये शिक्षा सत्र से 'पँच-प' के आधार पर स्कूली शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित किया है। 'पँच-प' हैं—परिवार, परिवेश, परम्परा, पराक्रम, और पहचान। शासन की मंशा है कि स्वयं की जानकारी, परिवार और पड़ोस की जानकारी, पीढ़ी-दर-पीढ़ी की जानकारी, अपने गाँव, कस्बा, मोहल्ले की जानकारी, लोक-संस्कृति, लोक-पहचान और क्षेत्र के स्वतंत्रता सैनानियों, वीरों, पराक्रमियों की जानकारी बच्चों को होनी चाहिए।

गाँधी जी कहा करते थे—

*'आदमी साक्षरता से अथवा अपनी विद्वता से आदमी नहीं बनता, बल्कि सच्चे जीवन के लिए ली गई शिक्षा से बनता है।'*

(हरिजन 2 फरवरी 1947 पृ. 3)

उनका मानना था कि निरंतर शंका और शुद्ध जिज्ञासा किसी भी प्रकार के ज्ञानार्जन की पहली शर्तें हैं। आज हमारा बच्चा विश्व की महान हस्तियों के बारे में इंटरनेट से जानकारी प्राप्त करता है, परन्तु उसे स्थानीय इतिहास, स्थानीय

\* एच-883, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, मुरैना (म.प्र) 47600.



भूगोल, अपने परिवार व परिवेश के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं होती।

आज व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है, वह एक व्यापक समाज, समुदाय-सभ्यता का हिस्सा है। वह मानव-समाज के साथ तो क्रियाकलाप करता ही है, परन्तु वह तथाकथित जड़ प्रकृति के साथ भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। प्रकृति में जड़ प्रकृति, वनस्पति, पशु-पक्षी इन विभिन्न उपांगों से उसका गहरा रिश्ता है। इतिहास क्या मात्र घटनाओं का लेखा-जोखा है? या उनका संबंध हमारे वर्तमान और भविष्य से भी है?

विगत की घटनाओं से न केवल हमारा भौतिक आचरण बल्कि आत्मिक, आध्यात्मिक और वैचारिक आचरण भी वर्तमान और भविष्य में प्रभावित होता है। हम अपने परिवेश से अपने अतीत और अपने वर्तमान को जोड़ सकते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक गतिविधियों को गहराई से पढ़ताल करने की आवश्यकता है। परिवेश से जो शिक्षण होता है, वह सजीव व रोचक होता है और उससे बच्चे की रचनात्मक क्षमता का विकास होता है।

बच्चा जब अपने बुजुर्ग से परिवार या वंश के संबंध में जानकारी जुटाता है, तो उसे अपने तथा कथित अशिक्षित (वास्तव में मात्र निरक्षर, अशिक्षित नहीं) बुजुर्ग के प्रति सम्मान का भाव बढ़ता है। इस प्रकार के शिक्षण में अपार संभावनाएँ हैं। इससे बच्चे में जिज्ञासा, प्रश्न पूछने, सिलसिलेवार सोचने, सूचना को विश्लेषित और वर्गीकृत करने की क्षमता बढ़ती है। इस प्रकार के शिक्षण में गणित, भाषा, इतिहास, भूगोल, चित्रकला सभी का सम्मिलन रहता है। वास्तव में मानव मस्तिष्क

खण्डों में विभाजित नहीं है। इसीलिए विभिन्न विषय भी एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। आज कृषि में नयी-नयी उपलब्धियाँ हासिल की जा रही हैं। परन्तु पारम्परिक खेती व बीज उस जमाने की फसलों आदि के बारे में संकलित जानकारी स्थानीय उपयोग की होती है। नगदी फसलों को तब लोग जानते न थे। पौष्टिकता और मौसमानुसार पारम्परिक फसलों का लाभ शरीर व मन के लिए बहुत हितकर है।

इस प्रकार के शिक्षण से श्रम की गरिमा का आभास मिलता है। आज हम पुस्तकीय शिक्षा में श्रम के महत्त्व को भुला बैठे हैं। गाँधी जी कहते थे कि—

“सच्ची शिक्षा केवल हाथ, पैर, नेत्र, कान, नाक आदि शारीरिक अंगों के उचित व्यायाम व प्रशिक्षण से ही प्राप्त की जा सकती है।”

गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा ‘साहसी नागरिकता’ के लिए बच्चों को तैयार करने का विधान था। यह परिवेश से शिक्षा इसी का एक लक्षण है—

“मनुष्य न केवल बुद्धि है, न निपट पाशिवक शरीर और न केवल हृदय और आत्मा। समग्र मानव इन तीनों के उचित और सामञ्जस्यपूर्ण योग से ही बनता है और शिक्षा की सच्ची योजना में इसी का समावेश होना चाहिए।”

(महात्मा गाँधी-हरिजन 8 मई, 1937 पृ. 104)

परिवेश के माध्यम से शिक्षा धन पर आधारित नहीं है। यह शिक्षा प्रणाली आयातित नहीं है और शुद्ध भारतीय मानस की उपज है। यह स्थानीयता से युक्त है और अपने परिवेश से आविष्ट है।

इसे कुछ मायनों में ग्राम-प्रधान भी कहा जा सकता है।

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रस्तुत 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005' में भी ज्ञान प्राप्ति में बच्चे द्वारा निभायी जाने वाली भूमिका पर फिर से जोर दिया गया है और सामाजिक/सांस्कृतिक दर्शन में 'ज्ञान का सामाजिक निर्माण' एक महत्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। ज्ञान का सामाजिक निर्माण अर्थात् अपने परिवेश की अन्तर्वस्तु के साथ सक्रिय जुड़ाव। यह मुक्त अधिगम पद्धति है। इसमें 'पहुँच और समता' है 'विविधता' और 'लचीलापन' है और यह बच्चे की 'आवश्यकता' और 'रुचि' के अनुकूल है। आज प्रचलित शिक्षा में पढ़ने-लिखने के बाद युवा अपने परिवेश से पूरी तरह कट जाता है। उसे लगता है कि जो कुछ उसका निजत्व स्वत्व है, वह 'पिछड़ा' है 'सामर्थ्यहीन' है और 'भदेस' है। इससे बच्चे में कुण्ठा और हीन भावना जागृत होती है। वह उस परायी जीवन पद्धति का अनुगामी होता है जो उसे कहीं नहीं पहुँचाती। वह एक अहंकार और झूठे अभिमान से भर जाता है। न तो उसे कोई ज्ञान

प्राप्त होता है, न हुनर, न ही कोई दक्षता। इसके अलावा आधुनिक शिक्षा मात्र सूचनात्मक है। ऐसी सूचना का उसके देश काल से कोई संबंध नहीं है। यह स्थिति बच्चे के आत्मविश्वास को तोड़ देती है। वह ललचायी नजर से उस दुनियाँ को देखता है जो उसकी नहीं है, न उसकी हो सकती है (कुछ प्रतिशत को छोड़कर)।

हर समाज की अपनी जीवन दृष्टि होती है। वह समाज उसी जीवन दृष्टि से संचालित होता है। यह जीवन दृष्टि भी कुछ मान्यताओं को जन्म देती है। परन्तु यदि मान्यता मूल्यों पर आधारित होती है तो वे व्यवहारसंगत होती है और फिर स्वयं के अनुभव और मान्यता के बीच फाँक नहीं होती।

परिवेश से शिक्षण की पहल एक तो भारतीय है, फिर वह स्थानीय है, शोषणकारी विकास की अवधारणा पर आधारित नहीं है। आज आधुनिक शिक्षा के माध्यम से जिस 'राजनैतिक अपरिशुद्धता' (Political incorrectness) का भय पैदा किया जाता है, वह नहीं है। कुल मिलाकर देश समाज को पुर्नस्थापित करने के लिए परिवेश से शिक्षण एक अच्छी पहल है।

# हस्तशिल्पों की धरोहर

एन.सी.ई.आर.टी.\*

‘राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005’ के विकास की प्रक्रिया के दौरान गठित 21 राष्ट्रीय फोकस समूहों ने स्कूली शिक्षा से जुड़े विविध मुद्दों जैसे—पाठ्यचर्या क्षेत्र, राष्ट्रीय चिंताएँ तथा व्यवस्थागत सुधारों पर विस्तार से चर्चा करते हुए आधार-पत्र लिखें। उन आधार-पत्रों में दी गई चर्चाओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा तैयार की गई। एन.सी.ई.आर.टी. की ओर से समय-समय पर की जाने वाली बैठकों, गोष्ठियों, प्रशिक्षण कार्यक्रमों में उन आधार-पत्रों पर चर्चा की जाती रही है। भारतीय आधुनिक शिक्षा के माध्यम से भी उन चर्चाओं को पाठकों तक पहुँचाने के प्रयास किये गए हैं। इस अँक में ‘हस्तशिल्पों की धरोहर’ नामक आधार-पत्र में दी गई पाठ्यसामग्री को शामिल किया गया है। यह आधार-पत्र इन मुद्दों की विश्लेषणात्मक चर्चा प्रस्तुत करता है कि क्यों भारतीय हस्तशिल्पों की धरोहर को स्कूली पाठ्यचर्या में शामिल किया जाए? उसके लिए हमें स्कूलों में किस प्रकार के बुनियादी ढाँचे व संसाधनों की आवश्यकता होगी, शिक्षक को इसके लिए कैसे तैयार किया जाए तथा बच्चों का मूल्यांकन इस क्षेत्र में कैसे किया जाए।

‘सीखना एक संघटित घटना है। यह पृथक् प्रक्रिया नहीं है।’— (कै. जीनान, डिजाइनर एवं शिल्प शिक्षक।)

- कुछ संतुलित तथ्य जो पृष्ठभूमि तैयार करते हैं और हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं
  - विश्व की जनसँख्या का 16% भारत में है।
  - भारत में सकल राष्ट्रीय उत्पाद (ग्रॉस नेशनल प्रोडक्ट-जी.एन.पी.) का 3.8% खर्च शिक्षा पर होता है तथा 15 वर्ष से ऊपर के आयुवर्ग की 46% जनसँख्या निरक्षर है।
  - चूँकि भारत में ज़्यादातर जनसँख्या वृद्धि न्यूनतम पढ़े-लिखे और कम दक्ष लोगों में ही हो रही है, इसलिए ऐसी संभावना है कि

\* राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, हस्तशिल्पों की धरोहर राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र से लिए गए चुनिन्दा अँश, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली (अप्रैल 2009).

रोज़गार बाज़ार में प्रवेश के समय भारत में या तो निरक्षर लोगों की या अल्प शिक्षित युवाओं और बच्चों की बाढ़ होगी।

- देश में 3880 लाख बच्चे 15 वर्ष से कम उम्र के हैं। भारत शिक्षा के मोर्चे पर बड़ी चुनौती का सामना कर रहा है।
- भारत में 54% वयस्क पढ़-लिख नहीं सकते।
- भारत में रोज़गार के क्षेत्र में हस्तशिल्पकारों का स्थान कृषि के बाद दूसरा है। प्रत्येक 200 भारतीयों में से एक व्यक्ति दस्तकार है।

## 2. फ़ोकस समूह की व्यापक दृष्टि

आज के भारतीय युवाओं को वैश्विक एवं तेज़ी से विकास की दिशा में अग्रसर समाज की चुनौतियों का सामना करने तथा साथ ही अपनी सांस्कृतिक संपदाओं, परंपराओं और मूल्यों को संरक्षित करने के योग्य बनाने के लिए एक पूर्ण एवं व्यापक शिक्षा देना।

## 3. फ़ोकस समूह के उद्देश्य

- शैक्षणिक प्रणाली में सैद्धांतिक रूप से एवं अभ्यास के ज़रिए हस्तशिल्प के सांस्कृतिक, सामाजिक और रचनात्मक पहलुओं को शामिल करना।
- यह सुनिश्चित करना कि हस्तशिल्प को एक पेशेवर कौशल के रूप में देखा जाए, जो रोज़गार के अवसर उपलब्ध कराने में सहायक हो।

जैसा कि किसी ने कहा है —

“मुझे कुछ कहो और मैं भूल जाऊँगा। मुझे कुछ दिखाओ हो सकता है मैं याद न रखूँ। मुझे किसी कार्य में शामिल करो तो मैं उस काम को समझ जाऊँगा।”

## 4. कार्य विधि

भारतीयों के विषय में यह आम धारणा है कि हममें सपने देखने की असीम क्षमता है, उसे हकीकत में बदलने की तुलना में। इसलिए हमने ऐसी संस्तुतियाँ देना महत्वपूर्ण समझा जो व्यावहारिक, विशिष्ट एवं पहुँच के अंदर हों; जिन्हें वैयक्तिक अनुभवों, आँकड़ों और मार्गदर्शन का समर्थन प्राप्त हो और जो व्यवस्था की कमज़ोरियों के बदले शक्तियों पर आधारित हों।

## 5. क्यों हस्तशिल्पों की धरोहर को स्कूली पाठ्यचर्या में शामिल करना चाहिए

यह फोकस समूह पूरे भारत के हस्तशिल्प क्षेत्र से जुड़े दो करोड़ लोगों का प्रतिनिधित्व करता है, भौगोलिक विस्तार के रूप में ये पूरे भारत को समेटते हैं और तरह-तरह की कार्य-संरचनाओं तथा संस्कृतियों को शामिल करते हैं। जिसमें विभिन्न तकनीकों और प्रौद्योगिकियों, तरह-तरह की सामग्रियों, मिट्टी से लेकर महँगी धातुओं के साथ काम करने वाले हस्तशिल्पकार भी सम्मिलित हैं। कृषि के बाद हस्तशिल्प ही रोज़गार का सबसे बड़ा ज़रिया है। यह देश की अर्थव्यवस्था के पहलुओं—निर्यात राजस्व एवं घरेलू बिक्री में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले कारकों में से एक है।

इसके अलावा हस्तशिल्प का इस्तेमाल अनेक सामाजिक मुद्दों और जीवन के तरीकों को दर्शाने के ज़रिए के रूप में भी किया जा सकता है। भारत में हस्तशिल्प की जड़ें इतनी गहरी हैं कि इसका इस्तेमाल सदियों से व्यापक दार्शनिक, तत्वज्ञान एवं सामाजिक अवधारणाओं के रूप में होता रहा है। अनेक शब्दों, पैमानों के रूपों, रंगों और वस्तुओं के मूल में हस्तशिल्प ही है। जिंदगी के ‘ताने बाने’ से

हम सभी अवगत हैं। इसमें जाति, लिंग, धर्म और सामाजिक कार्य सभी की महत्वपूर्ण एवं अलग-अलग भूमिकाएँ हैं। जब हम रणनीति अख्तियार करते हैं तो सभी भिन्न पहलुओं पर विचार करने की जरूरत होती है। *क्या बहिष्करण को जागरूकता में बदला जा सकता है?* इसका कोई व्यापक उत्तर नहीं है—हम केवल इस हस्तशिल्प क्षेत्र की विविधता एवं जटिलता की समझ विकसित करने का प्रयास कर सकते हैं। हमारे समूह का तर्क यह है कि—

*“हस्तशिल्प-सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों रूप से-विद्यालय और समाज के सभी सैक्टर और क्षेत्रों के बच्चों के लिए भावनात्मक, आर्थिक एवं बौद्धिक सशक्तीकरण का मज़बूत माध्यम हो सकता है।”*

हस्तशिल्प एवं धरोहर जैसे शब्दों का व्यापक अर्थ है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में वे खासकर भावनाओं को जाग्रत करने वाले होते हैं। शहरी परिवेश में रहने वाले युवाओं के लिए इनके अर्थ उबाने वाले, पुरातन और अप्रासंगिक हो सकते हैं; कुछ औरों के लिए इसके मायने समृद्ध संस्कृति और परंपराओं वाली पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता से जुड़े हो सकते हैं। इन संस्कृतियों और परंपराओं पर हम अपना मालिकाना हक होने का दावा करते हैं और इसमें कभी भी बदलाव नहीं चाहते। कुछेक लोग तो चाहते हैं कि परंपरा की घड़ी की सूई पूर्व मुगलकालीन भारत से थोड़ा पहले ही रुक जाए जबकि कुछ का मानना है कि हस्तशिल्प न तो कभी स्थिर है और न ही इसे कभी स्थिर होना चाहिए।

यदि कोई भारतीय नागरिक अंतरिक्ष में पहुँच जाता है, सौंदर्य प्रतियोगिता में विजयी होता है या

ओलंपिक में रजत पदक पाता है तो समकालीन भारतीय नागरिक बहुत उत्साही हो जाते हैं। सानिया मिर्जा 100 सर्वश्रेष्ठ टेनिस खिलाड़ियों में शामिल होती हैं तो हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है। लेकिन कुछ लोग ही ऐसे हैं जो उन लाखों उस्ताद हस्तशिल्पियों की मौजूदगी की सराहना करते हैं जिनका शेष दुनिया में कोई सानी नहीं है।

यह बात कितनी विरोधाभासी है कि जहाँ शिल्प परंपराएँ पहली बार अर्थव्यवस्था की मुख्यधारा में प्रवेश करने वाले ग्रामीण दस्तकारों के लिए एक अकेला और अनोखा आमदनी का जरिया है वहीं वे पिछड़ेपन और हीन भावना का भी सामना करते हैं। खासकर ऐसे समय में जब भारत उच्च प्रौद्योगिकी से युक्त औद्योगिकीकरण और वैश्वीकरण के युग में प्रवेश कर रहा है। सक्रिय कार्यकर्ताओं, अर्थशास्त्रियों, नौकरशाहों एवं व्यावसायिक रणनीतिकारों ने शिल्पों और डिजाइन तथा परंपरा के महत्वपूर्ण पहलुओं को सजावटी, सभ्रंतीय एवं परिधीय समझा न कि जीविकोपार्जन के धीरे-धीरे क्षीण होते जरिए के रूप में देखा। हस्तशिल्पियों को वर्तमान एवं भविष्य की अपेक्षा हमारे अतीत की तस्वीर पेश करने वाले के रूप में देखा जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक 200 भारतीयों में से एक व्यक्ति शिल्पकार है। हस्तशिल्प एक उत्पादन प्रक्रिया है। यह एक आश्चर्यजनक एवं स्वदेशी प्रौद्योगिकी का रूप है न कि प्राचीन हो चली परंपरा का। इसके कच्चे माल (बेंत, कपास, मिट्टी, लकड़ी, ऊन, सिल्क, खनिज लवण) न केवल हमारे देश में उपलब्ध हैं बल्कि ये पर्यावरण की दृष्टि से भी लाभप्रद होते हैं।

“अनोखे हस्तशिल्प कौशल, तकनीकों, डिजाइनों और उत्पादों के अस्तित्व भारत की ताकत हैं, जो सभी स्तरों पर कैरियर के अवसर उपलब्ध कराते हैं। यह इसकी कमजोरी नहीं है। विद्यालय की पाठ्यचर्या में इस बिंदु पर जोर दिए जाने तथा इसे शौकिया नहीं बल्कि विशिष्टता हासिल कराने के उद्देश्य से पढ़ाए जाने की आवश्यकता है”।

“हम में से वे जो नई सहस्राब्दि पर नज़र टिकाए हैं और भारत के लिए नए दिशा निर्देश की तलाश में हैं, उनके लिए हस्तशिल्प और शिल्पकारों की क्षमता कुछ ऐसे पहलू हैं जिनके बारे में नई पीढ़ी को संवेदनशील बनाया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में हस्तशिल्प एवं शिल्पियों की क्षमता के बारे में नई पीढ़ी को सचेत किया जाना चाहिए”।

हमें इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए कि प्रत्येक दस वर्ष में हम अपने दस प्रतिशत हस्तशिल्पकारों से हाथ धो बैठते हैं।

हमारे फोकस समूह ने जिन क्षेत्रों पर विशेष ध्यान केंद्रित किया है उनमें से एक है—हस्तशिल्प बहुलता वाले क्षेत्रों में (जहाँ ज्यादातर हस्तशिल्पी समुदाय के लोग हों) शिक्षा की विशिष्ट धारा को आरंभ करना। भारत में हस्तशिल्पकारों के बच्चों को ही यह चुनाव करना है कि वे या तो अनपढ़ रहते हुए अपने पूर्वजों के कौशल सीखें (इस प्रकार से काम करते हुए और पारिवारिक आय में अपना योगदान देते हुए) या फिर औपचारिक शिक्षा लें। ग्रामीण और राज्य द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के गिरते स्तर को देखते हुए कहा जा

सकता है कि इस प्रकार की औपचारिक स्कूली शिक्षा उन बच्चों को भविष्य में वास्तव में जीविकोपार्जन के योग्य बनाने में सक्षम नहीं है।

हस्तशिल्प के क्षेत्र में दिए जाने वाले प्रशिक्षण को (प्रशिक्षण भले ही घर पर हो या पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा के अनुरूप हो) औद्योगिक प्रशिक्षण का दर्जा दिया जाना चाहिए और इसे अन्य तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की तरह ही सहयोग भी प्रदान किया जाना चाहिए।

“हस्तशिल्पकला को अन्य व्यावसायिक प्रशिक्षण, खासकर पारंपरिक हस्तशिल्प के क्षेत्र में, के समान दर्जा दिया जाना चाहिए और इसे एक संरचित पाठ्यचर्या का हिस्सा होना चाहिए जिसमें प्रशिक्षकों या अभिभावकों को वेतन दिया जाए न कि बच्चों को।”

पारंपरिक कौशल के साथ-साथ पारंपरिक शिक्षा के लिए भी सुविधाएँ मुहैया कराना समान रूप से महत्वपूर्ण मुद्दा है। यह महत्वपूर्ण है कि हस्तशिल्प उत्पादन के मौसम को और कार्य संरचनाओं को ध्यान में रखते हुए सेमेस्टर और स्कूली कार्य घंटों का निर्धारण किया जाए, बहुत से युवा हस्तशिल्पकार स्कूल नहीं जाते क्योंकि स्कूल का समय और स्थान उनको इस तरह का अवसर नहीं दे पाते कि वे दोनों काम (पढ़ाई और पारंपरिक कौशल सीखना) साथ-साथ कर सकें। ज्यादातर हस्तशिल्प उत्पादन मौसमी प्रक्रिया है जिसमें बाज़ार की माँग के साथ-साथ उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। स्कूल की शर्तें और पाठ्यचर्याएँ इसके अनुसार ही होनी चाहिए।

“ऐसे क्षेत्र जहाँ हस्तशिल्प को प्रमुख गतिविधियों के रूप में शामिल किया गया है, वहाँ बच्चों

को हस्तशिल्प का चयन पाठ्यक्रम विकल्प के रूप में करने योग्य होना चाहिए।”

हस्तशिल्प को एक अपने आप में विशिष्ट धारा का रूप दिया जाना चाहिए जो बच्चों को सहायक कौशल जैसे—प्रोडक्ट डिजाइन, बुक कीपिंग, डिसप्ले, खरीद-फ़रोख़्त करना एवं उद्यमिता कौशल सिखा सकें।

उदाहरण के लिए हस्तकरघा बुनाई क्षेत्र में जो चीज़ें पढ़ाई जानी चाहिए, वे हैं—

- उद्यमवृत्ति
- धन प्रबंधन
- संचार
- टेक्सटाइल डिजाइन
- ड्राफ़्ट्समैनशिप (नक्शानवीसी)
- स्केल ड्राइंग
- हस्तशिल्प का इतिहास
- तकनीकी कौशल
- बुनाई के अन्य तरीके
- विभिन्न प्रकार के धागे एवं गणनाएँ

- अन्य डिजाइनरों, कलाकारों और हस्तशिल्पकारों से संपर्क एवं बातचीत।

शिल्पकारों को कुशल उद्यमी एवं आर्थिक सहयोगी के रूप में तैयार करने के लिए आवश्यक उपायों के बारे में हम सभी को आत्मचिंतन करना चाहिए और उन्हें कुशल उद्यमियों तथा आर्थिक भागीदारों की तरह आगे ले जाना चाहिए। हस्तशिल्प एवं हस्तशिल्पी समुदाय की कमजोरी ढूँढ़ने की अपेक्षा हमें उनमें जागरूकता पैदा करनी चाहिए एवं उन्हें मज़बूत बनाना चाहिए। हमें उनकी सांस्कृतिक चेतना के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। आर्थिक मामले हमारी प्रमुख आवश्यकताएँ हो सकती हैं लेकिन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक पहलुओं में हमें निर्णायक प्रक्रिया पर भी ध्यान देना चाहिए। हस्तशिल्पियों को अपने साथ लेकर चलने की आवश्यकता है। हमें सुनना और बोलना दोनों ही सीखने की आवश्यकता है। बदलाव की दिशा संरक्षण से भागीदारी की तरफ़ होनी चाहिए।

### बाल श्रमिक एवं हस्तशिल्प

“शिक्षुता की प्राचीन, उत्तम ढंग से नियमित व्यवस्था शिक्षा के वैकल्पिक साधन के रूप में विकसित की जा सकती है न कि दोहन करने वाली व्यवस्था के रूप में। बिना सोचे समझे बच्चों के हस्तशिल्प सीखने पर प्रतिबंध लगाने से उच्च अर्थोपार्जन करने में सक्षम कुशल कार्यबल का निर्माण करने का एकमात्र अवसर हाथ से जाता रहेगा। इससे हम वे अवसर भी खो देंगे जिनसे बढ़ती हुई बेरोज़गारी वाले इस देश

में स्वरोज़गार उपलब्ध हो सकें तथा ग्रामीण युवा और विशेषकर घरेलू महिलाओं के लिए भी रोज़गार पैदा किए जा सकें। लेकिन मुझे यह भी कहना है कि कोई बच्चा जो 15 वर्ष की आयु से कम है और विद्यालय में नहीं है, वह बाल श्रमिक है। यह बहुत दुःख की बात है कि भारत के हस्तशिल्प क्षेत्र में ज्यादातर ऐसा होता है कि शिल्पकारों के बच्चों को ही यह चुनाव करना है कि वे या तो अनपढ़ रहते हुए अपने पूर्वजों के कौशल सीखें (इस

प्रकार से काम करते हुए और पारिवारिक आय में अपना योगदान देते हुए)। या फिर औपचारिक शिक्षा लें।

“ग्रामीण और राज्य द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के गिरते स्तर को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की औपचारिक स्कूली शिक्षा उन बच्चों को भविष्य में वास्तव में जीविकोपार्जन के योग्य बनाने में सक्षम नहीं है। रणथंभौर का एक ग्रामीण स्कूल शिक्षक अपनी ड्यूटी पर हाज़िर होता है। दैनिक उपस्थिति रजिस्टर में हस्ताक्षर करता है, और फिर टूरिस्ट गाइड के रूप में जंगलों में चला जाता है।”

मेरे लिए यह एक ज़रूरी चिंता है, गरीबी नहीं, जिसका उदाहरण बाल श्रम की पैरवी करते हुए दिया जाता है। परंतु क्या बच्चों के लिए वैकल्पिक शिक्षा के अवसर उपलब्ध हैं जो उन्हें उसी तरह के रोज़गार के अवसर प्रदान कर सकें। क्या बाल श्रम हस्तांतरित हो सकता है—प्रशिक्षण और सशक्तीकरण के एक गतिमान नए रूप में? मुझे यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि मैं इस मुद्दे को आज पूर्ण रूप से शिल्प क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में देख रही हूँ, विशेषतः पारंपरिक घरेलू उद्योगों में तथा उनमें जो महिलाओं से संबंधित हैं।

शिल्प कौशलों में प्रशिक्षण, चाहे घर में हो या पारंपरिक गुरु-शिष्य संबंध के द्वारा, को औद्योगिक प्रशिक्षण के रूप में पहचाने जाने की आवश्यकता है और उसे उसी तरह का सहयोग दिए जाने की आवश्यकता है जैसा कि तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के दूसरे रूपों को दिया जाता है। परिवार, मास्टर, शिल्पकार, सहकारी समिति,

संस्थान या गैर-सरकारी संस्थान जो कि प्रशिक्षण दे रहे हैं, उन्हें कुछ वृत्ति ज़रूर दी जानी चाहिए ताकि नियोक्ता के बजाय बच्चों को कुछ धन मिल सके जो इस अवधि के दौरान कमा सकते हैं। नहीं तो कौशल सिखाने के बहाने बंधक बाल श्रमिकों की परंपरा के आगे हार मान लेने का एक प्रलोभन-सा हमेशा ही रहेगा। जैसा कि उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश के कांस्य उद्योग में दिखाई देता है, जहाँ यह हस्तशिल्प पारिवारिक पेशा न रहकर एक बड़ी उद्योग गतिविधि में बदलता जा रहा है। दूसरा प्रसिद्ध उदाहरण है—कालीन उद्योग। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय दबाव एवं कानूनी प्रावधान के कारण कुछ बदलाव किए गए हैं। उदाहरण के लिए रगमार्क स्माईलिंग कारपेट कैंपेन, यद्यपि यह अवधारणा या अनुप्रयोग में परिशुद्ध नहीं है, आगे कार्यनीति तैयार करने में एक माड्यूल के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है।

शिल्प कौशलों को पेशेवर प्रशिक्षण के दूसरे रूपों के बराबर होना चाहिए, विशेषकर पारंपरिक हस्तशिल्प क्षेत्रों में उचित ढंग से संचारित पाठ्यचर्या का एक हिस्सा होना चाहिए। जिसमें प्रशिक्षक और अभिभावक भाग लें और उन्हें कौशलों को सिखाने के एवज में पारिश्रमिक दिया जाए न कि वे बच्चों का इस्तेमाल ऐसे मजदूर के रूप में करें जिन्हें मेहनताना नहीं दिया जाता है। इसी तरह से महत्वपूर्ण है—औपचारिक शिक्षा के लिए सुविधाएँ उपलब्ध कराने का मुद्दा तथा साथ ही पारंपरिक कौशलों को सिखाने, सेमेस्टर की योजना बनाने और कार्य संरचनाओं के अनुसार कार्य घंटे निर्धारित



करने तथा शिल्प के उत्पादन की उपयुक्ता जैसे मुद्दे भी महत्वपूर्ण हैं। ज्यादातर युवा शिल्पकार विद्यालय नहीं जा पाते क्योंकि विद्यालय का समय और स्थान इस बात को असंभव कर देते हैं कि वे पढ़ाई के साथ हस्तशिल्पकारी सीख सकें। ज्यादातर हस्तशिल्पों का उत्पादन एक

सामयिक प्रक्रिया है। जिसमें बाजारी भावों के हिसाब से उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। विद्यालयी समय और पाठ्यचर्या को इसके अनुसार संघटित किया जा सकता है। भारत जैसे विविधता से परिपूर्ण और बहुआयामी देश में केवल एक ही हल या कार्यविधि नहीं हो सकती है।

### लैला तैयबजी, चाइल्ड लेबर इन क्राफ्ट्स ट्रेडक्राफ्ट वर्कशॉप, 2003

चर्चित शिल्पकार, गणपति सतपति ने हमें चेताया है (पश्चिम बनाम भारतीय पारंपरिक संस्कृति के विषय में), “अगर हम उन्हें नहीं कहते हैं तो वे हमें कहेंगे।” हम इसी बात को उलट कर इस तरह ले सकते हैं कि अगर हम हस्तशिल्पकारों की बात नहीं सुनते हैं तो एक समय ऐसा आएगा कि वे हमारी बात सुनने के लिए हमारे बीच नहीं रहेंगे।

शालिनी आडवाणी ने राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा से संबंधित अनौपचारिक विचार-विमर्श समूह के सदस्य के नाते मूल्यों पर आठ सुझाव दिए जिससे राष्ट्रीय पाठ्यचर्या में मदद ली जा सकती है। इन सुझावों को विद्यालय के पाठ्यचर्या में हस्तशिल्प शिक्षा को शामिल करने के तर्कों के रूप में भी देखा जा सकता है—

- हस्तशिल्प को किसी व्यक्ति के सामाजिक, सांस्कृतिक, भौतिक एवं मानसिक विकास को आकृति प्रदान करने का ज़रिया बनाया जा सकता है।
- यह सभी के लिए समान अवसर उपलब्ध कराने का ज़रिया है।
- यह लोकतंत्र का समर्थन करता है और उसके विषय में बताता है। 1960 के राज्य नियंत्रणीय तरीके से नहीं वरन् एक ऐसे

तरीके से जो व्यक्तियों तथा समुदायों के सशक्तीकरण को बढ़ावा दे।

- यह उत्पादक अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने वाला होता है।
- यह टिकाऊ, विकास को बढ़ावा देने वाला है।
- यह हमारी पहचान, हमारे संबंधों, खुद को और हमारे व्यापक समूहों को, जिसमें हम जीवन बसर करते हैं, को मूल्य देना सिखाता है।
- यह हमारे समाज की विविधता को बढ़ावा देता है।
- यह उस पर्यावरण को मूल्य प्रदान करता है जिसमें हम रहते हैं।

इसी तरह के शालिनी आडवाणी के अंतः-पाठ्यचर्या कौशलों की सूची भी हमारे उस तर्क का हिस्सा बन सकती जिसमें हम विद्यालयी शिक्षा में हस्तशिल्प को शामिल करने की बात कहते हैं। ये कौशल हैं—

- विद्यार्थियों को उनके पर्यावरण के साथ संबंधों की सराहना और एक-दूसरे की परस्पर निर्भरता का कौशल।
- **सामाजिक कौशल**—सहनशीलता, समझ एवं अपनी दुनिया को और समृद्ध करने की दिशा में असमानता का मूल्यांकन। इसमें हाशिए पर पहुँचे तथाकथित समूहों का सशक्तीकरण शामिल है।

- **सूचना प्रक्रिया कौशल** — प्रासंगिक सूचनाओं को ढूँढ़ निकालना और उन्हें संग्रहित करना, उनकी तुलना करना एवं संपूर्ण तथा आंशिक पहलुओं के संबंधों की व्याख्या करना।
- **तार्किक कौशल** — विचारों के लिए तर्क देना, व्याख्या के लिए यथार्थ भाषा का इस्तेमाल करना।
- **पूछताछ कौशल** — प्रश्न पूछना, क्रियाकलापों को योजनाबद्ध करना, विचारों में सुधार करना।
- **रचनात्मक कौशल** — अभिव्यक्ति कलाएँ, व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के विभिन्न तरीके तलाशना और स्कूली परियोजनाओं तथा व्यापार में शामिल होना। उद्यमिता कौशल इस तरह की अभिवृत्ति प्रोत्साहित करते हैं जिसमें व्यक्ति बदलाव से आनंदित होता है, जोखिम प्रबंधन का अभ्यास करता है और स्वयं की गलतियों से सीखता है।
- कार्य संबंधी संस्कृति।

### फ़ोकस ग्रुप का मत है कि

- राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की समीक्षा में पहली बार हस्तशिल्पों की धरोहर को फोकस क्षेत्र के रूप में शामिल किया जाना इस क्षेत्र की महत्ता की पहचान है।
- देश की शिक्षा प्रणाली पर आज इसके प्रभाव की समीक्षा करने का यह एक अनोखा अवसर है।
- चुनौती केवल सार्थक एवं परिवर्तनीय कार्यक्रम विकसित करने की ही नहीं है बल्कि इसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने की भी है।
- इसलिए अनुशांसाएँ ऐसी हों जो सरकारी विद्यालयों की स्थिति और उसके संसाधन (मानव एवं वित्तीय) के अनुरूप एवं ग्राह्य हों।

- अनुशांसाएँ ऐसी हों जो माता-पिता तथा अभिभावकों और बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करने में सार्थक सिद्ध हों।
- बाज़ार संचालित समाज में जबतक माता-पिता को यह नहीं समझाया जाता कि पाठ्यचर्या बच्चे के पेशागत विकास को बढ़ावा देने वाली है तबतक वे इसका समर्थन नहीं करेंगे।
- मौजूदा शिक्षा प्रणाली में प्रत्येक स्तर पर सार्वजनिक असंतोष एवं मायाजाल चुनौती के साथ-साथ बदलाव लाने का अवसर भी प्रस्तुत करता है।

### 6. हस्तशिल्प-विशिष्ट संस्तुतियाँ

- भारतीय हस्तशिल्प और इससे जुड़े लाखों हस्तशिल्पी पारंपरिक ज्ञान एवं स्वदेशी प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बहुत बड़े एवं महत्वपूर्ण संसाधन हैं।
- इस संसाधन का इस्तेमाल कई तरीकों से शिक्षा प्रणाली को बेहतर बनाने में किया जा सकता है।
- हस्तशिल्प को दोनों तरह से सिखाया जा सकता है — व्यावसायिक प्रशिक्षण और रचनात्मक गतिविधियों के तौर पर और सैद्धांतिक समाज विज्ञान के रूप में।
- हस्तशिल्प को केवल अलग विषय के रूप में ही नहीं पढ़ाया जाना चाहिए बल्कि इसे इतिहास, सामाजिक एवं पर्यावरण अध्ययन, भूगोल, कला एवं अर्थशास्त्र जैसे विषयों के अध्ययन का हिस्सा भी बनाया जाना चाहिए क्योंकि यह भारतीय संस्कृति, सौंदर्य और अर्थव्यवस्था का एकीकृत हिस्सा रहा है।

- हस्तशिल्प सभी तरह की परियोजनाओं को सचित्र शिक्षण सामग्री प्रदान करते हैं और सीखने की युक्ति की तरह उपयोग में आते हैं। इस प्रकार ये इन परियोजनाओं को बेहतर बनाने की दिशा में कारगर साबित होते हैं।
  - एक बच्चा कोई भी विषय या पेशा क्यों न चुनता हो, हस्तशिल्प माध्यम उसके सीखने की प्रक्रिया में सहायक साबित होता है। अपने हाथों, वस्तुओं और तकनीकों से काम करना दोनों तरीके से—समझने और समस्याओं के समाधान की दृष्टि से मदद पहुँचाते हैं।
  - भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (आई.आई.टी.) और विदेश में स्थित तकनीकी संस्थानों में मॉडल के निर्माण एवं कागजों को करीने से मोड़कर आकृति बनाने के तौर-तरीके का इस्तेमाल इंजीनियरिंग, गणित और भौतिकी की मूल अवधारणाओं में किया जाता है।
  - शिक्षकों के अन्य कैडर को हस्तशिल्प का प्रशिक्षण देने से अच्छा है—शिल्पियों को प्रशिक्षक एवं शिक्षक के रूप में इस्तेमाल किया जाना।
  - हस्तशिल्प की शिक्षा जीवन्त अनुभव प्रदान करने वाले अभ्यास के जरिए दी जाती है ना कि इतिहास का उद्धार करने के दिखावे के रूप में।
  - हस्तशिल्प को कक्षा अभ्यास की तुलना में एक परियोजना के रूप में बेहतर तरीके से पढ़ाया जा सकता है।
  - हस्तशिल्प की परियोजनाएँ एवं इससे संबंधित परिचर्चा ग्रामीण और शहरी युवकों को जोड़ने का जरिया हो सकती है।
  - प्रशिक्षकों या महत्वपूर्ण संसाधन के रूप में इस्तेमाल होने वाले हस्तशिल्पियों को भी उतना ही भत्ता और वैसी ही सुविधाएँ उपलब्ध करानी चाहिए, जो दूसरे प्रशिक्षित कर्मियों को मिलती हैं।
  - पहले से ही उन ग्रामीण क्षेत्रों जहाँ शिल्प का बोलबाला हो के विद्यालयों और शहरी इलाकों के विद्यालयों में हस्तशिल्प की अलग-अलग पाठ्यचर्याएँ होनी चाहिए ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में पहले से ही मौजूद हस्तशिल्प व्यवसायों (उद्यमिता, तकनीकी प्रशिक्षण, भाषा कौशल, एकाउंटेंसी, मार्केटिंग, पैकेजिंग) को और आगे बढ़ाया जा सके। शहरी क्षेत्रों में हस्तशिल्प की शिक्षा वैकल्पिक अनुभव एवं रचनात्मक निर्गम की स्थापना के नजरिये से दी जा सके।
  - हस्तशिल्प के शिक्षण में जेंडर, पर्यावरण, समुदाय, जाति आदि पहलुओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।
- ### 6.1 इतिहास में
- निरंतरता एवं परिवर्तन का उदाहरण।
  - लोगों के इतिहास का हिस्सा।
  - स्वतंत्रता आंदोलन में खादी की भूमिका।
  - घरों, पोशाकों, रहने/जीवन के तौर तरीके।
  - ग्रीक एवं रोमन साम्राज्य के साथ कपड़ों, मानव निर्मित वस्तुओं और आभूषणों का व्यापार।
  - कला संरक्षक के रूप में मंदिर एवं दरबार
  - शाहजहाँ के दरबार में कारखाने।
  - बाटिक एवं इकत कपड़ा हस्तशिल्प—भारत से दक्षिण पूर्व एशिया एवं वापसी में।

- नील एवं ब्रिटिश राज में नील की कहानी।
- पत्थर, लकड़ी, बाँस एवं मिट्टी की उपलब्धता से पारंपरिक घरों का निर्माण।
- जामावार शॉल।
- शहतूश-जातियों का संरक्षण या जीवनयापन का संरक्षण।
- हस्तकरघा एवं औद्योगिक क्रांति।
- सिंधु घाटी सभ्यता।
- मानव निर्मित वस्तुओं के जरिए सामाजिक जीवन की व्याख्या।

## 6.2 भूगोल एवं पर्यावरण अध्ययन में

- स्थानीय कच्चे माल की उपलब्धता पर आधारित स्थानीय हस्तशिल्प परंपराओं का प्रादुर्भाव।
- स्थानीय सामग्रियों का इस्तेमाल।
- खनिज एवं वनस्पति रंग।
- जल-बुनाई, डाई, ब्लॉक प्रिंटिंग में इस्तेमाल।

## 6.3 विज्ञान में

- ओरिगामी (कागज़ मोड़कर साज-सजावट की जापानी कला)।
- संतुलन और अनुपात।
- सामग्रियों के रासायनिक गुण।
- औज़ार एवं तकनीक।
- तपाना/पकाना एवं ढालना।

## 6.4 साहित्य में

- किंवदंती-विश्वकर्मा, इत्यादि।

### केस स्टडी

#### अर्चना कुमारी की कहानी

अर्चना कुमारी उत्तर बिहार के मुज़फ्फरपुर जिले के सर्वाधिक गरीब एवं पिछड़े इलाके के एक छोटे से गाँव की रहने वाली है। चौदह वर्ष की उम्र में उसने विद्यालय की पढ़ाई-लिखाई छोड़ दी और इलाके में पारंपरिक सुजनी कढ़ाई का काम कर कुछ पैसे कमाने में जुट गई। सत्रह वर्ष की आयु में उसके रचनात्मक कौशल की जानकारी अदिति नामक एक गैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) और कनाडा के कपड़ा विशेषज्ञ डॉ. स्काई मॉरिसन को मिली, जिन्होंने संयुक्त प्रयास से उसे छात्रवृत्ति देकर नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ फैशन टेक्नोलॉजी (निफ्ट) में प्रशिक्षण के लिए भेज दिया। अँग्रेज़ी की जानकारी नहीं होने और शैक्षणिक योग्यता में फिसड्डी रहने के बावजूद उसने अपने सत्र में सर्वश्रेष्ठ डिज़ाइन संग्रह का पुरस्कार हासिल किया और निफ्ट ने आगे के अध्ययन के लिए उसे चुन लिया। उसका कहना है कि वह उसकी हाथ की कारीगरी एवं शिल्प के क्षेत्र में कार्य करने के अनुभव की बदौलत ही वह अन्य बच्चों पर भारी पड़ी है। उसे इस बात का मलाल है कि उसके स्थानीय विद्यालय ने उसे या अन्य बच्चों को इस दिशा में ऐसा कोई शुरुआती आधार प्रदान नहीं किया।

“हम भी धन अर्जित कर सकते हैं लेकिन हम आज भी दूसरों पर निर्भर हैं। ऐसा इसलिए कि हममें शिक्षा की कमी और भाषा की समस्या है।” शिवा कश्यप, महिला शिल्पकार, मधुबनी (बिहार)

“मेरे बेटे के दोस्त उसकी इसलिए खिल्ली उड़ाते हैं क्योंकि वह अपनी माँ की सहायता करता है।” रिनजानी, (महिला) कसीदा शिल्पकार, इंडोनेशिया (दस्तकार, थ्रेडलाइंस वर्कशॉप 1998)

- हस्तशिल्प एवं हस्तकरघा का साहित्यिक उल्लेख।
- बुनाई एवं करघा तत्वमीमाँसक रूपक के रूप में।

### 6.5 कुछ परियोजनाओं एवं विद्यालयी संदर्भ में

- पोस्टर।
- नक्शे।
- विद्यालय में नाटक के मंचन के लिए मुखौटे, पोशाकें तथा मंच।
- नमूने तैयार करना।
- विद्यालयी साज-सज्जा।
- कागज के थैले, हस्तनिर्मित कागज।
- स्थानीय शिल्पों एवं मानव निर्मित वस्तुओं से स्कूल का संग्रहालय विकसित करना।
- विद्यालय में डिजाइनों मोटिफ़्स एवं अन्य वस्तुओं का अभिलेखागार तैयार करना।

### 7. कैरियर एवं नियोजन

- भारत के हस्तशिल्प कौशल अनोखे एवं आज के मशीनी समाज के प्रमुख अंग हैं।
- निर्यात के क्षेत्र में हस्तशिल्प का सबसे अधिक योगदान है।
- कृषि के बाद हस्तशिल्प रोजागार का सबसे बड़ा क्षेत्र है।
- वास्तु, अभियंत्रण, डिजाइन, फ़ैशन सहित अनेक पेशों में हस्त-कौशल उपयोगी हैं।
- कैरियर से जुड़े अन्य क्षेत्रों यथा—निर्यात, संग्रहालय प्रबंधक, शिक्षण एवं गैर-सरकारी संगठन क्षेत्र में हस्तशिल्प एक महत्वपूर्ण प्रवेश बिंदु हो सकता है।

- विद्यालयी कैरियर (परामर्श) में इन वास्तविकताओं को उजागर किया जाना चाहिए।
- माता-पिता/शिक्षकों को इसकी वाणिज्यिक क्षमता की समझ होनी आवश्यक है।
- कैरियर के रूप में हस्तशिल्प की क्षमता, खासकर मौजूदा हस्तशिल्प परंपराओं वाले क्षेत्रों में, पर जोर देना महत्वपूर्ण है।
- हस्तशिल्प के वर्चस्व वाले क्षेत्रों में, हस्तशिल्प पृष्ठभूमि वाले विद्यार्थियों की दक्षता को पेशेवर रूप प्रदान करने में सहायता के लिए डिजाइन, उद्यमिता, उसके प्रबंधन एवं बिक्री आदि के बारे में सिखाया जाना चाहिए।

### 8. जैंडर

हस्तशिल्प और जैंडर का महत्वपूर्ण संबंध रहा है। एक तरफ तो हस्तशिल्प परिवार और समाज के भीतर पुरुषों और महिलाओं की भूमिका का सूक्ष्म दर्शन है। पुरुष और महिलाएँ हस्तशिल्प की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं में एक साथ काम करते हैं। महिलाएँ मिट्टी गूँथती हैं और पुरुष इसे चाक पर रखकर बर्तन तैयार करते हैं, महिलाएँ धागा कातती हैं और पुरुष कपड़े बुनते हैं, महिलाएँ चमड़े की जूतियों पर कसीदे काढ़ती हैं जबकि पुरुष उसे काटकर सिलते हैं। एक महिलाएँ प्रतिदिन बिना कुछ लिए अपने परिवार के भीतर ऐसी बहुत-सी भूमिकाएँ निभाती हैं।

दूसरी तरफ महिलाओं ने ऐसी अनेक हस्तशिल्प कलाओं के क्षेत्र में अपना वर्चस्व कायम किया है जिसे पुरुष शिल्पकारों ने छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए, लखनऊ की चिकन इंब्रायडरी का काम अब पुरुषों ने लगभग छोड़ दिया है। अब इसे पूरी तरह महिलाएँ ही करती

हैं। इसी तरह राजस्थान के अनेक हिस्सों में ब्लॉक प्रिंटिंग का भी यही हाल हुआ है। पिछले दो दशक से अधिक समय से हस्तशिल्प गैर कुशल एवं घरेलू महिलाओं के लिए आय और रोजगार का सफल जरिया बन चुका है। इस प्रकार यह सामाजिक सशक्तीकरण के अन्य रूपों के लिए उत्प्रेरक का काम करता है। वरिष्ठ कक्षाओं के विद्यार्थियों में इन मुद्दों एवं अवसरों की जागरूकता को हस्तशिल्प की सैद्धांतिक समझ में बुना जाना चाहिए।

*“पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता होनी चाहिए एवं सभी प्रकार के पेशे दोनों के लिए खुले होने चाहिए। सभी पेशों का आदर करना चाहिए एवं हस्तशिल्प को एक पेशे के रूप में व्यवहार में लाया जाना चाहिए।”* मारिया गैरानितो, इम्ब्रायडर, मडेरा (दस्तकार थ्रेडलाईंस वर्कशॉप, 1998)

बाल भवन पाठ्यक्रमेतर विकल्प के रूप में हस्तशिल्प की शिक्षा प्रदान करने वाली कुछेक राष्ट्रीय संस्थाओं में से एक है। शिल्पकार द्वारा इसमें किए गए केस अध्ययन से यह पता चला कि बाल भवन की अनेक लड़कियों ने मेंहदी रचने, कृत्रिम फूल बनाने और बाँधनी के कौशल सीखकर उन्हें अपने घर-आधारित व्यवसाय के रूप में अपनाया।

## 9. पारिस्थितिकीय

हस्तशिल्प कुछेक पेशों में से एक है जो प्राकृतिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष परिणाम है। आसपास की प्राकृतिक वस्तुओं—लकड़ी, धातु, मिट्टी, कपास, बेंत और बाँस, सिल्क, लाख आदि की मौजूदगी सर्वाधिक पारंपरिक हस्तशिल्पों के महत्वपूर्ण आधार

हैं। आदमी और प्रकृति, आर्थिक विकास एवं पर्यावरण संतुलन के बीच इस तरह संतुलन बनाए रखने में कृत्रिम ऊर्जा, बुनियादी संरचना या निवेश की बहुत बड़ी मात्रा की आवश्यकता नहीं होती है। इसीलिए हस्तशिल्प आज भी जीवंत है।

ऐसी दुनिया में जहाँ बाहरी संसाधनों पर निर्भरता बढ़ती जा रही है, हस्तशिल्प अनेक पाठ सिखाता है। हालाँकि हस्तशिल्प की शिक्षा इस ताकीद के साथ देनी चाहिए कि इनमें से कच्चे माल के ज्यादातर स्रोत तेजी से समाप्ति की ओर अग्रसर हैं। जंगलों की कटाई हो रही है और उनके स्थान पर नये जंगल नहीं लगाए जा रहे हैं, पानी दूषित हो रहे हैं, अनेक तरह की घास एवं बेंत के पेड़ उपलब्ध नहीं हो पा रहे हैं, कपास के लिए मशहूर आंध्रप्रदेश के खेतों में अब तंबाकू की खेती की जाने लगी है।

- *“वह झील जहाँ से मैं इत्र के लिए खस लिया करता था अब उस जगह पर गैस की फैक्ट्री है”* सवाई माधोपुर के एक पारंपरिक परम्प्युम निर्माता के अनुसार
- *“अपशिष्ट उत्पाद की अवधारणा आधुनिक है”* टेरीकोटा हस्तशिल्पकार, तमिलनाडु
- *“पशु अपने आवास को खोजते हुए सीखना शुरू कर देते हैं”* माधव गाडगिल, आवास और अधिगम फोकस समूह के अध्यक्ष

हाथी दाँत, चंदन की लकड़ी तथा शहतूश पर प्रतिबंध लगाने और वन्यजीवों के संरक्षण एवं समाप्त होते प्राकृतिक संसाधनों के जीविका पर होने वाले प्रभावों जैसे मुद्दों पर कक्षा में चर्चा किए जाने की ज़रूरत है। इस दिशा में वैकल्पिक उपायों की तलाश करने के लिए शोध एवं विकास कार्य किए जाने की आवश्यकता है।

## 10. आवश्यक औज़ार एवं बुनियादी संरचना

- मूल जानकारी देने के लिए प्रशिक्षित शिल्पियों का समूह।
- विभिन्न पृष्ठभूमि के प्रशिक्षक एवं शिक्षक जो हस्तशिल्प में रुचि रखते हों।
- विद्यालय में एक ऐसा व्यक्ति हो जो निवेशों, परियोजनाओं, बाह्य प्रशिक्षकों, हस्तशिल्प प्रदर्शनों और क्षेत्रीय दौरों का समन्वय कर सकें।
- एक ऐसी हस्तशिल्प प्रयोगशाला हो जिसमें पर्याप्त जगह और सुविधा हो तथा जहाँ कच्चा माल उपयुक्त मात्रा में हो।

## 11. प्रत्येक संस्थान के लिए आवश्यक संसाधन सामग्री

- देश के हस्तशिल्प का नक्शा।
- शिल्पकारों एवं हस्तशिल्प संस्थानों की क्षेत्रवार सूची।
- हस्तशिल्प पर मोनोग्राफ़।
- फिल्म और अन्य दृश्यगत सामग्रियाँ।
- विभिन्न तकनीकों, दक्षता और वस्तुओं से संबंधित मैनुअल/हैंडबुक।
- हस्तशिल्प से जुड़े लोगों के लिए विशेष मानदंड।
- समूह में कार्य करने के आवश्यक कौशल।
- शिक्षा में प्रेरणा प्रदान करने के उपाय।
- प्रौद्योगिकी और उत्पाद की पुनः शुरुआत।
- विभिन्न सरकारी एजेंसियों के बीच संबंध।

## 12. संसाधन

- संस्थानों को पहचानना।

- व्यक्तियों को पहचानना।
- नियमित अधिसूचना भेजना।
- प्रयोग की गई वस्तुओं की सूची तैयार करना।
- प्रामाणिकता सुनिश्चित करना।
- हस्तशिल्पों को सूचीबद्ध करना।
- डिजाइन एवं मोटिप्रस की सूची बनाना।
- शिल्पकारों के मौखिक इतिहास को संकलित करना।
- मोटिप्रस और डिजाइनों की स्थानीय संसाधन पुस्तक तैयार करना (उदाहरण के लिए कोलम, मंडना, बुनना और कढ़ाई के मोटिप्रस)।
- मोटिप्रस और डिजाइनों के अर्थ और महत्व की व्याख्या (उदाहरण के लिए—अल्पना) स्वयं का संसाधन (स्कूल में कक्षा-कक्ष परियोजनाओं के हिस्से के रूप में विकसित)।

## 13. प्रशिक्षकों के लिए प्रशिक्षण

इस बात पर सहमति है कि प्रशिक्षकों का चुनाव महत्वपूर्ण पहलू है। सही प्रोत्साहन एवं प्रश्रय के बिना यह परियोजना असफल हो सकती है। हर कोई कला शिक्षकों की भयानक कहानियों से अवगत है जिसमें प्रतिभावान एवं रचनात्मक क्षमता वाले विद्यार्थियों के हितों का भी गला घोट दिया जाता है।

सर्वप्रथम उपयुक्त प्रशिक्षकों/शिक्षकों की पहचान किए बिना और उन्हें उपयुक्त प्रशिक्षण दिए बगैरे क्राफ्ट स्टडीज (हस्तशिल्प अध्ययन) नामक नये पाठ्यक्रम को सफलतापूर्वक शुरू नहीं किया जा सकता है। इस योजना को पहले कुछ विद्यालयों में प्रयोग के तौर पर शुरू किया जाना चाहिए और फिर बाद में उसे सुधार कर अमल में लाना चाहिए।

## प्रशिक्षण मॉड्यूल के रूप में नियोजित एवं विकसित किए जाने की आवश्यकता वाले क्षेत्र

- प्रशिक्षण के लिए आवश्यक घटक पहचानना।
- कैरियर विकल्प पहचानना।
- संसाधन सामग्रियों तथा औजारों (शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक) की सूची बनाना।
- पर्याप्त अनुभव सुनिश्चित करना।
- हस्तशिल्प से संबंधित घटकों की पहचान करना
- संसाधनयुक्त संस्थाओं और व्यक्तियों के बीच नेटवर्किंग।

### 14. मूल्यांकन

फोकस ग्रुप इस बात पर एकमत है कि कोई औपचारिक परीक्षा या अँक देने की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इस क्षेत्र में सफलता और असफलता वंशानुगत दक्षता एवं बच्चों को मिलने वाली प्रेरणा तथा शिक्षक की वस्तुपरक मूल्य प्रणाली पर आंशिक रूप से निर्भर करती थी। लेकिन नियमित मूल्यांकन का कोई प्रारूप अख्तियार करना चाहिए जो शिक्षक और पाठ्यक्रम दोनों के लिए स्व-मूल्यांकन भी होगा। इन बातों का भी मूल्यांकन किया जाना चाहिए कि बच्चे ने कैसा प्रयास किया, उसकी रुचि कैसी थी और उसने चीजों को कैसे निपटारा।

इस पाठ्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य है— बच्चों का अनुभव स्तर और उनकी दक्षता एवं रचनात्मकता बढ़ाना। जैसा कि पुलक दत्ता ने कहा है, 'जब बच्चे पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी सौंपी जाती है तो उसकी खुशी छिन जाती है।'

एक ऐसा प्रारूप एवं ऐसी प्रणाली होनी चाहिए जो पूरी तरह कठोर न हो।

### 15. कला एवं हस्तशिल्प

फोकस ग्रुप ने अनुशांसा की है कि इन दोनों विषयों को अलग-अलग करने की अपेक्षा इन्हें एक साथ मिला देना चाहिए और भारतीय हस्तशिल्प कौशल एवं वस्तुओं का इस्तेमाल रेखाचित्र और पेंटिंग आदि के साथ-साथ बच्चों की रचनात्मकता एवं कलात्मकता विकसित करने में किया जाना चाहिए। डिजाइन एक ऐसा महत्वपूर्ण घटक है जिसे दोनों विषयों में शामिल किया जाना चाहिए साथ ही विद्यार्थी हस्तशिल्प तकनीक का इस्तेमाल विद्यालय-पर्यावरण, कक्षाओं और पोशाकों की डिजाइन के लिए कर सकते हैं।

### 16. प्रश्न एवं सरोकार

हस्तशिल्प शिक्षा किस तरह विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न सामाजिक समूहों की अपेक्षा और संदर्भों पर खरी उतरेगी? क्या हाशिए पर पहुँच चुके लोगों की आवाज़ को जगह देने के मुद्दे पर इसका रुख लचीला होगा? इससे विविधता और समानता के मुद्दों से कैसे निपटा जाएगा?

### 17. पाठ्यचर्या समीक्षा के लिए चर्चा समूह

- हस्तशिल्प के परिप्रेक्ष्य में धरोहर के घटक क्या हैं?
- क्या 'धरोहर' शब्द युवाओं तक यह गलत संदेश पहुँचाता है कि यह 'मृतप्राय इतिहास' का उद्धार मात्र है।
- विभिन्न सामाजिक परिवेशों (ग्रामीण/शहरी) में हस्तशिल्प का क्या अर्थ है?



- क्या हस्तशिल्पों की धरोहर के अध्ययन को पारंपरिक भारतीय शिल्पों तक ही सीमित रखना चाहिए या इसे समकालीन एवं गैर स्वदेशी तकनीकों तक भी बढ़ाया जाना चाहिए?
- कोई कैसे हस्तशिल्प अध्ययन को शहरी युवाओं के लिए प्रासंगिक एवं उत्साहवर्द्धक बना सकता है?
- हस्तशिल्प के क्षेत्र में किए गए योगदानों का व्यावहारिक अनुभव कैसे पाठ्यपुस्तकों और मैनुअल में समाहित किया जा सकता है?
- नयी पाठ्यचर्या को संचालित करने वाली क्रियान्वयन एजेंसी की भूमिका और रूप क्या होगा?
- शिक्षकों की गुणवत्ता कैसे निर्धारित की जाएगी?
- पाठ्यचर्या में हस्तशिल्प शिक्षा की जगह कैसे बनाई जाएगी?
- संसाधनों का अभाव जैसे—सामग्रियों एवं उपकरणों का क्रय मूल्य, इनसे कैसे निपटा जाएगा?
- नौकरशाहों एवं स्थानीय प्रशासन को हस्तशिल्प शिक्षा के प्रति कैसे संवेदनशील बनाया जाएगा?
- हस्तशिल्प को राजनीतिक-सांस्कृतिक कारणों से गुमराह नहीं किया जाना चाहिए।
- हस्तशिल्प को सफलता नहीं हासिल कर सकने वालों के लिए दूसरी श्रेणी का विकल्प नहीं बनने देना चाहिए।

## 18. हम कहाँ से आये हैं? हम क्या हैं?

### हम कहाँ जा रहे हैं?

पॉल गॉग्विन

- बाल भवन के दस्तकार कैसे अध्ययन के परिणामों और विद्यालयों के हस्तशिल्प संग्रहालय

के भ्रमण से इस तथ्य को बल मिलता है कि हस्तशिल्प को स्कूल की शिक्षा का हिस्सा बना देना चाहिए। हस्तशिल्प के जरिए सीखना आसान हो जाता है और इसका इस्तेमाल इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित आदि जैसे विषयों की शिक्षा प्रदान करने में किया जा सकता है।

- बच्चे हस्तशिल्प के जरिए अपनी सांस्कृतिक विरासत का अनुभव कर सकते हैं।
- हस्तशिल्प आधारित प्रशिक्षण व्यावसायिक हो सकते हैं और उत्तरवर्ती जीवन में इनका इस्तेमाल जीविका अर्जित करने में किया जा सकता है।
- हस्तशिल्प बच्चों को ऐसे रास्ते प्रदान करता है जिसमें वे शब्दों की जरूरत महसूस किए बिना और सजा के डर के बिना अपने आपको अभिव्यक्त कर सकते हैं।
- हस्तशिल्प बच्चों की वंशानुगत रचनात्मकता को बाहर लाता है। खासकर यदि उन्हें इस बात के लिए मुक्त कर दिया जाए कि वे क्या और कब सीखना चाहते हैं।
- रचनात्मक प्रतिभा को निखारना महत्वपूर्ण है क्योंकि विद्यालयों में मुख्य रूप से अकादमिक अवयवों पर ध्यान दिया जाता है। यदि कोई बच्चा गणित में अच्छा नहीं कर रहा है तो उसे असफलता का अहसास करने के लिए छोड़ने के बजाय अन्य क्षेत्रों में लगाया जाना चाहिए।
- गैर औपचारिक विधि अख्तियार करने के कारण बाल भवन में सीखना एक आनंदमयी अहसास है। यदि हस्तशिल्प को नियमित

पाठ्यक्रम में शामिल किया जाता है तो इस बात को ध्यान में अवश्य रखना चाहिए।

- पारंपरिक हस्तशिल्पकारों को इन विद्यालयों में शिक्षण के कार्य में लगाने से न केवल उन्हें रोजगार मिल जाएगा बल्कि इससे यह भी सुनिश्चित होगा कि हस्तशिल्प का अध्यापन देश की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा के लिहाज से सही है। उदाहरण के लिए, वे क्रॉस स्टिच इंब्रायडरी के लाभों को बढ़ा-चढ़ाकर व्यक्त करने के बजाय मधुबनी पेंटिंग के बारे में बता सकते हैं।

- बच्चों को पारंपरिक हस्तशिल्प की शिक्षा प्रदान करने से यह सुनिश्चित हो जाएगा कि ये परंपराएँ समाप्त नहीं होंगी। एक अध्यापक ने कहा है—

*“ऐसा वक्त नहीं आने देना चाहिए कि विदेशी लोग भारत आकर हमारी ही हस्तशिल्प कला के बारे में हमें पढ़ाएँ”।*

### 19. क्रियान्वयन से जुड़े विचार

- सभी विद्यालयों में हस्तशिल्प प्रयोगशालाएँ स्थापित करना।
- जूनियर एवं मिडिल विद्यालयों में हस्तशिल्प को अनिवार्य करना एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में (खासकर विकसित हस्तशिल्प कला वाले क्षेत्रों में) इसे प्रमुख ऐच्छिक विषय के रूप में रखना।
- बच्चों को स्थानीय इतिहास, भौगोलिक स्थितियों, रीति-रिवाजों, पुष्पों और वनस्पतियों,

कपड़ों और पोशाकों और संस्कारों से संबंधी पुरातात्विक हस्तशिल्प बनाने की स्थानीय हस्तशिल्प संग्रहालय से संबद्ध परियोजनाओं पर काम करना चाहिए।

- वार्षिक मेलों का आयोजन किया जाना चाहिए जिनमें बच्चों द्वारा विकसित एवं तैयार उत्पादों को बेचने की व्यवस्था हो।
- हस्तशिल्प की दृष्टि से विकसित इलाकों में अवकाश के दिनों में शिविर लगाने की व्यवस्था हो जहाँ हस्तशिल्पकारों के साथ काम का अवसर मिल सके।
- हस्तशिल्पकारों (विशेषकर उस अवस्था में जहाँ वे विद्यालय के बच्चों के अभिभावक हों) द्वारा व्याख्यान और प्रदर्शन दिए जाएँ।
- अनुदेशन के माध्यम के रूप में पुतलियों का इस्तेमाल।
- हस्तशिल्पकार बच्चे जो पढ़ा सकते हों उनके साथ शहरी और ग्रामीण विद्यालयों के बीच अनुभवों का आदान-प्रदान हो तथा बच्चों को एक दूसरे के इलाकों में भी ले जाया जाए।

हस्तशिल्पकारों के प्रति आदर भाव एवं दस्तकारी कला तथा कौशलों के प्रति प्रशंसा की भावना का विकास करना इन अनुशंसाओं का मुख्य उद्देश्य है। हमारी संबद्ध जानकारी के अनुसार अद्भुत और समृद्ध हस्तशिल्प परंपराएँ एवं कुशल तथा प्रतिभाशाली हस्तशिल्पकार भारत की बेजोड़ पूँजी हैं जिसको उस संसार में अपनी पहचान की तलाश है जो ज़्यादा एकरूप और प्रौद्योगिक होता जा रहा है।

# यूरोपीय भाषा चिंतन और भारत

विजय कुमार\*

प्रस्तुत निबंध में भाषा और मानविकी संबंध आधुनिक चिंतन को संक्षेप में रखा गया है। उसकी तुलना भारतीय शास्त्रीय चिंतन से भी की गई है। उसकी भारत के प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथों में भाषा पर जो चिंतन मिलता है, उसका आधुनिक यूरोपीय सिद्धांतों पर अप्रत्यक्ष किंतु गहरा प्रभाव पड़ा है। विख्यात भाषा विज्ञानी फर्डिनेंड सास्युअर संस्कृत के गंभीर अध्येता थे। उनके विचारों पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव झलकता है। सास्युअर के चिंतन ने शब्द, अर्थ, भाषा, मनुष्य की विचार प्रक्रिया, साहित्य लेखन, आदि विषयों पर गंभीर प्रभाव डाला। इससे संकेत मिलता है कि भारतीय शास्त्रों का अध्ययन शैक्षिक दृष्टि से आज भी मूल्यवान है। तभी हम नए-नए यूरोपीय सिद्धांतों, विचारों आदि का भी सम्यक मूल्यांकन कर सकेंगे।

पिछले कुछ दशकों में साहित्य संसार में अनेक परिवर्तन घटित हुए हैं। प्रचलित साहित्यिक विचारों एवं विद्वानों का जिस वैश्विक चुनौती से सामना हुआ है, उसकी अवज्ञा संभव नहीं है। न केवल भाषा और साहित्य की प्रकृति से संबंध में बल्कि इस पर भी कि मानवीय मस्तिष्क वस्तुओं को किस प्रकार देखता है और यथार्थ का बोध किस प्रकार होता है। किसी समाज की संस्कृति में किस प्रकार विचारों का आदान-प्रदान होता है। साहित्यिक

पाठक की भूमिका तथा पठन प्रक्रिया के संबंध में जो मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए वह 20वीं शताब्दी के साठोत्तरी दशक में चर्चा के केंद्र रहे हैं। इधर संरचनावाद, विरचनावाद, संकेत विज्ञान, शैली विज्ञान आदि के कारण सैद्धांतिकी में भारी परिवर्तन हुए हैं। इसने न केवल अर्थ के दर्शन का नया मार्ग खोला है, बल्कि भाषा, जीवन, स्वत्व, मानस बोध, आत्मपरकता, वैचारिकी, साहित्य एवं संस्कृति के बारे में सोचने के कई आधार बदल दिए हैं।

\*स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, (बिहार).

वैसे मानवीय चिंतन में कोई भी पड़ाव अंतिम नहीं होता है। सच्चाई की व्याख्याएँ भी बदलती रहती हैं। प्रत्येक वैमुख्य किसी पूर्वधारणा से वैमुख्य होता है। जिस तरह आज की नई विचारणा का मौजूदा वैमुख्य विगत की वैचारिक अभिवृत्तियों से है, उसी तरह भविष्य का वैमुख्य वर्तमान सैद्धांतिकी से होगा। काल प्रवाहमान स्रोतस्विनी की तरह है, कोई चाहे भी तो एक ही नदी में दो बार कदम नहीं रख सकता। जो भी हो, हमें अभी इस बात की भी जाँच करनी चाहिए कि पश्चिम की खोज पूर्व के चिंतन से किस अर्थ में भिन्न है? साथ ही, पश्चिम की जो खोज आज विश्वव्यापी मानी जाती है, उसकी वास्तविकता क्या है? यहाँ उसका एक सांकेतिक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास भर है, न कि कोई सर्वांगीण विमर्श।

इस संदर्भ में प्रथम बात तो यह है कि अनुभववाद और प्रत्ययवाद के उन आधारों एवं अवधारणाओं, जिन पर विश्व और भाषा के संबंध में कई अवधारणाएँ स्थापित हुईं, उन्हें चुनौती देने का श्रेय आधुनिक भाषिकी को ही प्राप्त है, न कि दर्शन की किसी शाखा को। इन धारणाओं को सर्वप्रथम पश्चिम में प्रस्तुत करने का श्रेय फर्डिनेंड डी. सास्युअर (1857-1913) को है। वे एक स्विस भाषा-विज्ञानी थे। उनके विचारों पर आधृत भाषिकी से जिस आधारभूत सिद्धांत का जन्म हुआ उसे संरचनावाद कहा जाता है। 21 वर्ष की आयु में सास्युअर ने इंडो-यूरोपीय स्वरतंत्र पर अपना एक मात्र आलेख प्रकाशित किया और 1880 में संस्कृत व्याकरण पर डॉक्टरेट ली। बाद में वे पैरिस और जेनेवा में संस्कृत और भाषा-विज्ञान पढ़ाते रहे। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम पाँच-छः

वर्षों (1907-11) में जेनेवा विश्वविद्यालय में कई व्याख्यान दिये। 1912 की गर्मियों में वह बीमार पड़े और 56 वर्ष की आयु में ही उनका देहांत हो गया। उसके दो वर्ष बाद उनके शिष्यों के नोट्स की सहायता से उनके दो साथियों ने *Course de Linguistique Generale* नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। इसका अँग्रेजी अनुवाद 1959 में प्रकाशित हुआ।

भाषा के संबंध में सास्युअर के विचार इस कदर परिवर्तनकारी और क्रांतिकारी थे कि भाषिकी चिंतन पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। अनंतर यही संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद का आधार सिद्ध हुए। संरचनावादी चिंतन का स्रोत भाषिक मॉडल है, जिसने अपना बौद्धिक उद्दीपन मूलतः सास्युअर, रूसी मूल के रोमान याकब्सन, रूसी स्वर विज्ञानी एन. त्रुबेट्सकोय तथा फ्रांसीसी नृतत्वशास्त्रवेत्ता लेविस स्ट्रास से प्राप्त किया। सास्युअर के युग तक यह अवधारणा थी कि दुनिया स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली चीजों से संरक्षित है तथा इन चीजों की वस्तुनिष्ठ परिभाषा एवं वर्गीकरण संभव है। यथार्थ की इस अवधारणा के प्रभाव में भाषा के संबंध में सामान्य रवैया यह था कि भाषा ऐसे शब्दों का संग्रह है, जो अलग-अलग अर्थ रखते हैं और जिनकी स्वतंत्र परिभाषा संभव है। सास्युअर ने शताब्दियों से चली आ रही इस अवधारणा का मूलोच्छेद कर दिया कि भाषा कोई तात्त्विक वस्तु है। इसके स्थान पर सास्युअर ने भाषा की संबंधात्मक परिकल्पना प्रस्तुत की।

उनका सर्वाधिक क्रांतिकारी प्रयास यह दृष्टिकोण था कि भाषा वस्तुओं को मात्र नाम देने वाला तंत्र

नहीं है बल्कि भाषा विभेदों का तंत्र है। भाषा का कार्य वस्तुओं के नामकरण की बजाए उनकी अवधारणाओं में विभेद के संबंध के माध्यम से उसकी पहचान स्थापित करना है। भाषा का अध्ययन उन संबंधों के आलोक में करना चाहिए जिनके कारण भाषा के अवयव परस्पर संबंध रखते हैं और क्रियान्वित होते हैं। यानी भाषा का अध्ययन विन्यस्त ऐकिक तंत्र के रूप में किया जाना चाहिए। चूँकि भाषा का अध्ययन उपस्थित समय के स्तर पर संभव है जिसे ही समकालीन अध्ययन कहा जाता है। यह उन दिनों के सामान्य चलन ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न था।

मार्क्सवादी चिंतक फ्रेडरिक जेम्सन का कहना है कि सास्युअर की अप्रतिम मेधा का अनुमान उसके इस आग्रह से होता है कि भाषा का समस्त तंत्र प्रत्येक क्षण में संपूर्ण है, चाहे एक क्षण पूर्व ही उस में कोई परिवर्तन हुआ हो। भाषा के ऐतिहासिक विकास से स्वतंत्र, भाषा समय के हरेक क्षण में एक संपूर्ण तंत्र रखती है जिसके अनुसार वह हर समय बोली और समझी जाती है। और इस तथ्य से भी निरपेक्ष की भाषा बोलने वाला भाषा के पूर्व इतिहास का या ऐतिहासिक परिवर्तनों का ज्ञान रखता हो या न रखता हो।

सास्युअर भाषा के कार्य को समझाने के लिए भाषा की संकल्पना दो प्रकार से करता है। एक को वह *लांग* (भाषा) कहता है, दूसरे को पारोल (वाक्)। इन दोनों में सास्युअर ने जो द्वंदात्मक संबंध स्थापित किया, वह बुनियादी महत्त्व रखता है। अनंतर वह आधुनिक भाषिकी के विकास में सामान्य रूप से संरचनावाद की उन्नति में विशेष सहायक सिद्ध हुआ। उसकी दृष्टि में भाषा और

वाक् में अंतर यह है कि भाषा का संपूर्ण तंत्र जो भाषा के किसी वास्तविक उदाहरण से पूर्व मौजूद है, *लांग* है और बोली जाने वाली अवधारणा वाक् यानी पारोल है। जो भाषा के संपूर्ण तंत्र के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती और उसके अन्दर रचित होती है। *लांग* की अवधारणा समाज में रची-बसी हुई है। जिसका समाज में भाषा के सभी बोलने वाले अवचेतन रूप से ही काम लेते हैं और उसके बगैर कोई भी भाषा नहीं बोली जा सकती। *लांग* भाषा का अमूर्त तंत्र है, पारोल उसका व्यक्तिगत रूप जो किसी एक भाषा को बोलने वाले व्यक्ति के भाषा व्यवहार में व्यक्त होता है। इन दोनों का भेद सास्युअर के भाषा चिंतन का मूल है और उसका परिणाम दूरगामी।

*लांग* से न्यूनाधिक वह धारणा अभिव्यक्त होती है जिसे सामान्य बोलचाल में भाषा कहते हैं अर्थात् भाषा के व्याकरण तथा परम्परा की वह समग्र अमूर्त अवधारणा, जिसके अनुसार हम किसी भाषाई समाज में संप्रेषण का कार्य करते हैं। जबकि पारोल दैनंदिन भाषा व्यापार है। सास्युअर ने इसे शतरंज के उदाहरण से समझाया। कोई भी बाजी शतरंज के सभी नियमों का उपयोग नहीं करती, लेकिन प्रत्येक चाल संभव ही इसीलिए होती है कि शतरंज के समस्त नियमों के अधीन है। खेल के नियम अपना संपूर्ण तंत्र रखते हैं, जो अमूर्त रूप में मौजूद है और कोई भी चाल उस समस्त तंत्र के अनुसार ही चली जा सकती है। शतरंज के खेल का पूरा तंत्र *लांग* के समरूप है, तथा उसकी प्रत्येक चाल पारोल है। एक अमूर्त तंत्र है, दूसरी प्रत्यक्ष घटना।

इस वास्तविकता के ज्ञान ने कि भाषा एक अमूर्त तंत्र है, जो किसी एक स्थान पर पूर्णतया

दृष्टिगत नहीं होता किंतु वैयक्तिक व्यवहार में थोड़ा-बहुत व्यक्त होता रहता है, आधुनिक भाषिकी के आगामी यात्रापथ का निर्धारण कर दिया। इस तरह चार्ल्स प्रीज के अनुसार सास्युअर ने शब्दों के माध्यम से समझे जाने वाले शब्द-केंद्रित चिंतन की भाषागत अवधारणा को सदा के लिए बदलकर रख दिया। उसका स्थान भाषा की संबंधात्मक एवं संरचनात्मक अवधारणा ने ले लिया। यदि भाषा में किसी अवयव का कोई महत्त्व नहीं, और जो महत्त्व स्थापित होता है वह उस संबंध के अनुसार जो किसी अवयव का भाषा में दूसरे अवयवों से है, तो भाषा के बारे में सोचने का नज़रिया ही बदल जाता है।

यदि ध्वनियों के मूलभूत ध्वन्यात्मक स्तर के बारे में विचार करें तो सामान्यतः विभिन्न प्रकार की ऊँची-नीची ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। यदि इन ध्वनियों को भाषा के अवयव के रूप में मानें तो ज्ञात होगा कि जो चीज उन्हें सार्थक बनाती है, वह उनमें और दूसरी आवाजों में विभेद का संबंध है, न कि निःसर्ग का। उनमें कोई विशेषता है। अर्थात् भाषा की ध्वनियाँ निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष हैं। इसमें परस्पर विभेद विरोधों के तंत्र को स्थापित करता है। फलतः भाषा की ध्वन्यात्मक संरचना उन विशिष्ट ध्वनियों से गृहीत है जो अपने संबंधों के साथ अर्थ के अंतर को प्रकट करती हैं।

इस प्रकार एक ध्वनि दूसरी ध्वनि से अपने विभेदों के कारण आपस में संबंधित होकर अर्थोत्पत्ति में सहायक होती हैं। सास्युअर के अनुसार किसी भाषा के पास न ऐसी ध्वनियाँ हैं, न ऐसे तत्व जो उसके भाषिक तंत्र के पूर्वगामी हों। भाषा में मात्र

ध्वन्यात्मक विरोध और अवधारणाएँ हैं जो उसके अपने तंत्र के अनुसार प्रभावकारी हैं। अतः भाषा एक रूप है, पदार्थ या वस्तु नहीं। यह वह संरचना है जिसकी अपनी विधियाँ हैं। भाषा की इस प्रणाली की दो विशेषताएँ हैं। प्रथमतः यह यादृच्छिक (Arbitrary) और स्वायत्त है। दूसरे, यह विन्यस्त (Systematic) है। स्वायत्त इसलिए कि यह आत्मनिर्भर है, इसका स्वयं अपना औचित्य है। यदि इस तथ्य के विरुद्ध अपील करना चाहें कि जाल/चाल का अंतर क्यों अर्थपूर्ण है और वेदना/वहना में अंतर सार्थक क्यों नहीं है, तो भाषा से इतर कोई बाह्य शक्ति इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। भाषा में जो भी होता है वह उसके अपने नियमों के अनुसार होता है।

दूसरे भाषा विन्यस्त है अर्थात् जिन संबंधों और सिद्धांतों के तंत्र पर यह स्थापित है, वे निश्चित हैं। भाषा की संरचना के अनुसार भाषा के प्रत्येक अवयव की स्थिति निर्धारित है। इस प्रकार भाषा संरचना पर आधारित है। उसका तंत्र संरचनात्मक है। सास्युअर के विचार से भाषा केवल शब्दों के माध्यम से क्रियान्वित नहीं होती। भाषा संकेत तंत्र के आलोक में कार्य करती है, शब्द जिसका दृष्टिगत हिस्सा मात्र है। यह संकेत तंत्र अमूर्त है तथा भाषिकी का कार्य इस तंत्र के सिद्धांतों एवं सूत्रों की खोज करना अर्थात् भाषा की संपूर्ण संरचना का पता लगाना है।

भाषा के इन संकेतों को इस दोहरे संबंध की सहायता से समझा जा सकता है जो ध्वन्यात्मक बिंब और अवधारणा के मध्य है। संकेत इन दोनों के समूह हैं। सास्युअर ने संकेत के इस दोहरे संबंध को सिग्निफायर और सिग्निफाइड का नाम

दिया है। अर्थात् ध्वन्यात्मक बिंब संकेतक है और अवधारणा संकेतित। शब्द 'वृक्ष' के ध्वन्यात्मक बिंब और वृक्ष की अवधारणा में जो संरचनात्मक संबंध है, वह भाषिक संकेत को निर्मित करता है। यह शब्द वृक्ष की ध्वनियों और उसकी अवधारणा तथा उस वास्तविक वृक्ष जो धरती से उगता है, जिससे और पत्ते होते हैं, कोई नैसर्गिक संबंध नहीं है। शब्द 'वृक्ष' या उसकी किसी की ध्वनि में पेड़ की कोई विशेषता नहीं है। और न ही इस शब्द की अवधारणा किसी बाह्य शक्ति के निर्देशानुसार निर्धारित हुई है। वृक्ष को यह अर्थ भाषा संरचना ने दिया है। यह संरचना स्वयं को निर्मित करने और स्थापित करने वाली विधियों का समूह है। ये विधियाँ आवश्यकता के अनुसार वाक्यों तथा उनके रूपांतरणों की रचना करती है।

सामान्यतः अनुभव होता है कि शब्द 'वृक्ष' एक लेबल है, जो स्थायी रूप से स्थापित है तथा जिस पर कोई समस्यामूलक प्रश्न नहीं उछाला जा सकता। सास्युअर ने इसे चुनौती दी। उसके विचार में यदि शब्द पहले से ही उपस्थित अवधारणाओं हेतु स्थापित होते तो एक भाषा से दूसरी भाषा में उनके अर्थ पर्याय होते, लेकिन ऐसा नहीं है। वास्तविकता यह है कि विभिन्न भाषाएँ वस्तुओं को विभिन्न रूप से देखती और प्रकट करती हैं। सास्युअर ने इसके कई दृष्टांत दिए हैं। फ्रांसीसी में *mouton* शब्द है। इसके विपरीत अँग्रेजी उसके पर्याय *mutton* और *sheep* में अंतर करती है। जोनाथन कूलर ने उदाहरण दिया है कि अँग्रेजी में *river* और *stream* में अंतर है, उसी प्रकार फ्रांसीसी में *fleuve* और *riviere* में अंतर है। फ्रांसीसी में बड़े और छोटे के अंतर की बजाए

*fleuve* समुद्र में गिरता है और *riviere* दूसरे *riviere* में या *fleuve* में समाविष्ट हो जाता है।

प्लेटो ने भी *Cratylus* में इस समस्या को उठाया था परन्तु उसे अनुत्तरित छोड़ दिया। सास्युअर ने इस पर जो वादानुवाद आरंभ किया उसका भाषिक सिद्धांतों एवं संबंधित संहिताओं पर प्रभाव पड़ा। उसका एक महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि यदि संकेत के संकेतक एवं संकेतित का संबंध स्वतंत्र रूपेण होता तो वृक्ष को प्रत्येक भाषा में वृक्ष कहा जाता। सारी दुनियाँ में एक ही भाषा बोली जाती, जबकि ऐसा नहीं है। यह ध्यान देना होगा कि संकेतक और संकेतित का संबंध प्रकृति के प्रति तो स्वतंत्र है किंतु संस्कृति के प्रति स्वतंत्र नहीं है। जिस संस्कृति में हिंदी का चलन हो वहाँ वृक्ष को पेड़ कह सकते हैं परन्तु *tree* या *Arbor* नहीं।

सास्युअर ने आग्रह किया है कि भाषाई संरचनाएँ आत्मनिर्भर और अपने नियमों को स्वयं निर्धारित करने वाली यानी स्वायत्त होती हैं। उनकी दृष्टि अंतर्मुखी होती है। भाषा में संकेत किसी निरपेक्ष विशेषता के आधार पर नहीं अपितु संबंधों के आधार पर और उन विशिष्टताओं के आधार पर क्रियान्वित होते हैं जो भेद और विरोध पर स्थापित है। सास्युअर ने कहा "*In Language there are only difference without positive terms*"। भाषा में भेद है केवल बिना सकारात्मक पदों के यही वह सूत्र है जिसने अनंतर देरिदा के विरचनावाद की आधारशिला बनाई। फिर सास्युअर ने इस पर बल दिया कि संकेत तंत्र का गहन अध्ययन मानवीय जीवन के तंत्र या उसकी समस्त सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यंजनाओं के तंत्र को समझने में सहायक हो

सकता है। उसने संकेत तंत्रों के अध्ययन को संकेत-विज्ञान का नाम दिया था और कहा कि एक दिन वह विधा अस्तित्व में आएगी।

अतएव भाषा या ध्वनि अथवा शब्द निःसर्गतः चीजों को व्यक्त नहीं करते, बल्कि उनकी अवधारणा स्थापित करते हैं या उनके संबंधों की धारणा स्थापित करते हैं जो दूसरे शब्दों से भाषा के भीतर रहते हैं। जिन चीजों का भाषा उल्लेख करती है वे वास्तविक चीजें नहीं जो भाषा के बाहर अस्तित्व रखती हैं। प्रत्युत उन चीजों की अवधारणाएँ जो भाषा के भीतर विद्यमान हैं। इस का अर्थ यह नहीं कि भाषा के सांकेतिक तंत्र से हटकर बाहर ठोस दुनिया अस्तित्व नहीं रखती है। किंतु उसका ज्ञान होता है या वह मनुष्य के बोध का हिस्सा भाषा की संहिताबद्ध संरचना के माध्यम से ही बनती है। वह हमारे और दुनियाँ के बीच संपर्क बनाती है। अर्थात् वास्तविक वृक्ष अस्तित्व रखता है, लेकिन वह हमारे बोध का हिस्सा उस अवधारणा के माध्यम से ही बनता है जो भाषा के तंत्र से स्थापित होती है।

भाषा के संबंध में यह भ्रांत धारणा, कि भाषा यथार्थ का प्रतिबिंब प्रस्तुत करती है, इस कारण पैदा होती है कि वस्तु की अवधारणा उत्पन्न करने के बाद वह लुप्त हो जाती है। अतः यह अनुभव ही नहीं होता है कि जिस संपर्क से हमने वस्तु को पहचाना है, यह स्वयं वस्तु नहीं थी, बल्कि अवधारणा थी जो भाषा तंत्र के द्वारा अस्तित्व से आई। यह ध्यान देने योग्य है कि किसी भाषा को बोलते हुए उसके साथ वाक्यों की एक अनंत सँख्या बोलने वाले की पहुँच में होती है, लेकिन वह आधृत होती है शब्दों की सीमित सँख्या पर।

सीमित शब्दों और सीमित संबंधों की सहायता से दैनंदिन वार्तालाप में वाक्यों की रचना होती है और होती रहेगी। सीमित से असीमित की रचना किस प्रकार संभव है, सास्युअर के अनुसार इसके लिए भाषा का सिद्धांत उसकी संरचना है तथा प्रत्येक रूप इस संरचना से निर्मित होता है। इस प्रकार भाषा का रचनात्मक कार्य जारी रहता है।

भाषा के माध्यम से मनुष्य बाह्य यथार्थ या विश्व का बोध करते हैं, यह मानवीय मस्तिष्क की विशिष्ट संरचना है। मात्र इतना ही नहीं बल्कि यह समस्त मानवीय यथार्थ की विशिष्ट संरचना है। प्रत्येक परिस्थिति अपनी अभिव्यक्ति के लिए वाक्य की मुखापेक्षी है और वाक्य का अध्ययन भाषा के अंदर दूसरे वाक्यों से उनकी अनुरूपताओं और संबंधों एवं उन संबंधों के संपूर्ण तंत्र की अवधारणा आधुनिक भाषिकी की केंद्रवर्ती अवधारणा है।

संरचनावाद ने इसका आग्रह किया कि पाठ न केवल एक तंत्र के रूप में प्रभावकारी होता है, अपितु साहित्यिक तंत्र व्यापकतर सांस्कृतिक तंत्र के भीतर कार्य करता है। इसका श्रेष्ठतम दृष्टांत रोलां बार्थ की कृति एस/जेड है। सास्युअर के अनुसार भाषा उसी समय अस्तित्व में आ जाती है जब समाज अस्तित्व में आता है। भाषा और समाज तथा भाषा एवं विचार प्रणाली में गहरा संबंध है। संस्थाओं का कोई भी कार्य भाषा के बिना संभव नहीं है। केवल एक सामाजिक समुदाय ही संकेतों का सृजन कर सकता है। भाषा प्रारंभ से अंत तक एक सामाजिक व्यवहार है। संकेत और संकेतित का पारस्परिक संबंध प्रकट नहीं है। यह प्रक्रिया भाषाई समाज के भीतर होती है। कोई



भी समाज भाषा के प्रतीकात्मक तंत्र के बिना स्थापित हो ही नहीं सकता, न ही उनकी उत्पादन प्रणालियाँ और रहन-सहन।

इस प्रकार सास्युअर ने भाषा के सामाजिक यथार्थ होने का आग्रह किया। उसका आधार युग्मित अंतर या द्विचर विरोधों (binary opposition) पर है। यह अंतर विश्व की सभी भाषाओं में पाया जाता है और सार्वभौम स्वरूप का है। रोमान याकूबसन और मौरिस हॉले ने अपनी पुस्तक *फंडामेंटल्स ऑफ लेंग्वेज* (द हेग, 1956) में सिद्ध किया कि युग्मित विरोध में अंतर स्थापित करना बच्चे के मस्तिष्क का पहला युक्तिपरक कार्य होता है। यह विरोध मानव मस्तिष्क का पहला कदम है जिससे संस्कृति प्रकृति में प्रविष्ट होना आरंभ करती है। युग्मित अंतर से पृथकत्व स्थापित करना और उससे सहायता लेना ही मानव मस्तिष्क का वैशिष्ट्य और उसकी सबसे बड़ी पहचान है। मानव मस्तिष्क की यही विशेषता संरचना को जन्म देती है और उसमें काम लेती है। संरचनावाद में संपूर्ण तंत्र की अवधारणा एक श्रेणीबद्ध संगठन के रूप में की जाती है, जिसमें प्रत्येक श्रेणी अथवा तल पर इन्हीं सिद्धांतों के कार्यान्वयन से निचले धरातल के तत्व अपनी संगति एवं वैशिष्ट्य से श्रृंखला दर श्रृंखला आनुषांगिक संबंधों एवं अर्थों की मैत्री को उत्पन्न करते हैं।

भाषा की संरचना का अभिप्राय भाषा के विभिन्न तत्वों के मध्य संबंधों का वह तंतु है जिसके आधार पर भाषा बोली और समझी जाती है। संकेतों के तंत्र जिसमें प्रत्येक वस्तु पारस्परिक संबंधों से गुम्फित है। यह संबंध संगति/विरोध/

उपस्थिति/अनुपस्थिति पर आधारित है। संबंधों के प्रकार्य के इस तंत्र से अर्थ स्थापित होता है। साथ ही संस्कृति के बीसियों वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में तत्वों के पीछे संबंधों का एक तंत्र है जो स्वरूप की दृष्टि से अमूर्त है। जो संगति और विरोध, उपस्थिति/अनुपस्थिति के दोहरे प्रकार्य का वाहक है। याकूबसन के अनुसार यह विचार विरोध, एक दीप्तिमान शक्ति के समान है, जो भाषा के प्रत्येक सार यानी ध्वनि, शब्द, वाक्य आदि सारे स्तरों पर मिलता है और भाषा की समस्त क्रियाशीलता में आधारभूत भूमिका निभाता है।

### प्राच्य भाषा चिंतन

ऊपर जिस यूरोपीय/पाश्चात्य नई अंतर्दृष्टि की चर्चा है तथा अँग्रेजी भाषा एवं साहित्य में जिन प्रगतियों का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में हुआ है उन बिंदुओं पर भारतीय चिंतन परंपरा में अति प्राचीन काल से विचार होता आया है। सच तो यह है कि आधुनिक पाश्चात्य/यूरोपीय चिंतन और प्राचीन भारतीय चिंतन में विस्मयकारी समानताएँ दीख पड़ती हैं।

यूरोप में भाषा के अध्ययन का कार्य ऐतिहासिक रूप से संक्षिप्त ही है। स्वयं अनेक यूरोपीय विद्वानों ने स्वीकार किया है कि ग्रीस की तुलना में भारतीय विवेचन कहीं अधिक वैज्ञानिक और सूक्ष्म है। यूरोपीय सभ्यता के उद्गमस्थल ग्रीस के विद्वानों ने अपने को सीमित रखा। सुकरात (ई.पू. 469-399) की मान्यता थी कि शब्द और अर्थ का संबंध नैसर्गिक न होकर रूढ़ होता है। वहीं प्लेटो (ई.पू. 429-347) के अनुसार शब्द और अर्थ में नैसर्गिक संबंध हैं। पश्चिम में प्लेटो ने ही सर्वप्रथम ध्वनियों का वर्गीकरण किया। उसके अनुसार शब्द और

अर्थ में एक प्रकार का रहस्यात्मक नैसर्गिक संबंध है। संसार के प्रत्येक वस्तु की अपनी ध्वनि है। भाषा को वह नामकरण की पद्धति पर आधारित और उससे उत्पन्न मानता है। परन्तु अरस्तू (ई.पू. 384-322) ने माना कि शब्द और अर्थ का संबंध रूढ़ होता है। उसने शब्द और वाक्य आदि के संबंध में अपने विचार व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किए। किंतु ग्रीकों की भाषा संबंधी कल्पना लगभग 18वीं शताब्दी तक ज्यों की त्यों चलती रही और उसमें कुछ खास विकास नहीं हुआ।

लैटिन की स्थिति तो ग्रीक से भी अधिक बुरी थी। सर्वप्रथम रूसो ने 18वीं शताब्दी में अपना भिन्न मत प्रतिपादित किया कि मनुष्य ने पारस्परिक विनिमय से भाषा बनाई है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि 18वीं शताब्दी में जब पाश्चात्य/यूरोपीय भाषा वैज्ञानिकों का संस्कृत से परिचय हुआ तब जाकर उन्होंने भाषा के संबंध में नए सिरे से सोचा और भाषा संबंधी आधुनिक पाश्चात्य/यूरोपीय विचारों को जन्म दिया। भाषा शब्द संस्कृत के भव् धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है व्यक्त वाणी। जिससे प्रकट होता है कि भाषा का मुख्य प्रयोग ध्वनि संकेतों की सहायता से भावों या विचारों की अभिव्यंजना के लिए ही होना चाहिए।

भाषा संबंधी मीमांसा के क्षेत्र में भारत की देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। ध्वनि पद, वाक्य, अर्थ और आघात भाषा का कोई पक्ष नहीं है जो भारतीय भाषा चिंतन में शामिल नहीं हुआ है। भारतीय सारस्वत साधना का उदगम स्थल वेद है। वेद शब्द का अर्थ ही है ज्ञान। भाषा के संबंध में हमारे पूर्वज कितने जागरूक थे, इसका अन्यतम

प्रमाण यह है कि वेद के अध्ययन के लिए उसके छः अंगों का अध्ययन भी अनिवार्य समझा गया और छः अंगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष में शिक्षा व्याकरण निरूक्त और छंद—ये चार भाषा से ही संबद्ध हैं। शिक्षा का संबंध ध्वनि से था, व्याकरण का पद और वाक्य से। निरूक्त का व्युत्पत्ति से और छंद का वैदिक मंत्रों के सम्यक पाठ से। पाठ को शुद्ध बनाए रखने के लिए मंत्रपाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जरापाठ, धनपाठ। वेद पढ़ने वालों को ये सभी पाठ कंठस्थ रहते थे। मंत्र स्थित पदों को मिलाकर पढ़ना, मंत्र पाठ, पदों को तोड़कर पढ़ना पद पाठ, क्रम से दो-दो को पढ़ना क्रम पाठ। प्रथम पद को द्वितीय के साथ, द्वितीय को प्रथम के साथ, इस प्रकार आगे 1-2, 2-1, 2-3, 3-1... को जरा पाठ। अंत की ओर से आरंभ कर दूसरे पद का पहले पद के साथ पढ़ते जाने को धनपाठ कहा गया है।

यद्यपि प्राचीन भाषा चिंतन में भाषा की समस्या पर कई प्रकार से बहस उठाई गई है। प्रथम, व्याकरणिक चिंतन के संप्रदाय में। द्वितीय, प्राचीन भारतीय चिंतन दर्शन के जो छः प्रधान संप्रदाय हैं उनमें भाषा दर्शन पर विभिन्न कोणों से विचार हुआ है। कुछ मूल ग्रंथों का काल वेदों के तुरंत बाद का है। वेद स्वयं उत्तम काव्य के अप्रतिम उदाहरण हैं। तीसरे, इस पर अलंकार शास्त्र एवं साहित्य शास्त्र के सम्प्रदाय से विचार हुआ है।

इसमें व्याकरण सबसे प्राचीन है जिनमें यास्क पाणिनी के भी पूर्ववर्ती माने जाते हैं। पाणिनी ने अपने लब्ध-कीर्ति ग्रंथ *अष्टाध्यायी* में संस्कृत संरचना के सिद्धांत दिए, उन्हें वैज्ञानिक सर्वदेशीयता

के साथ नियमबद्ध किया। कात्यायन ने उस पर वर्तिक लिखा और उनके सूत्रों में वृद्धि की। पतञ्जलि ने पाणिनी और कात्यायन दोनों के मूल पाठों की टीका महाभाष्य नाम से लिखी। पतञ्जलि के बाद व्याकरण परंपरा के सबसे बड़े चिंतक भर्तृहरि को माना जाता है जिन्होंने न केवल पतञ्जलि के महाभाष्य की टीका लिखी, अपितु वाक्यपदीयम् नाम से भाषादर्शन पर संवर्धित ग्रंथ लिखा जिसका महत्त्व आज भी जगविदित है। किंतु छठी-सातवीं शताब्दी के उपरान्त व्याकरण परंपरा का वेग क्षीण हो गया और उसका स्थान अलंकार शास्त्र, काव्य शास्त्र की परंपराओं में समाविष्ट हो गया।

भारतीय दर्शन में मीमांसकों ने शब्दार्थ की समस्या पर सबसे अधिक चिंतन-मनन किया है जिसका मूल पाठ जैमिनी के मीमांसा सूत्र में है। उस पर शबर ने विस्तृत भाष्य लिखा। शबर कृत भाष्य के निष्कर्षों से मतामत के आधार पर कुमारिल भट्ट और प्रभाकर के वाद-प्रतिवाद से दो आनुशांगिक संप्रदाय अस्तित्व में आए। यह क्रम मध्यकाल तक चलता रहा। भारतीय दर्शन में भाषा और अर्थ की सत्ता पर मीमांसा के पश्चात् सर्वाधिक विचार-विमर्श न्याय दर्शन में हुआ जो मूलतः तर्कविदों का समुदाय है। बौद्ध तार्ककों में नागार्जुन और दिङ्गनाग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनके शून्य और अपोह सिद्धांतों की विवेचना तथा बीसवीं शताब्दी में सास्युअर एवं देरिदा की विवेचना में विलक्षण समानताएँ हैं। ध्यान रहे, नागार्जुन का काल दूसरी शताब्दी और दिङ्गनाग का पाँचवीं शताब्दी है। बौद्ध अपोह सिद्धांत को आगे बढ़ाने वालों में धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भाषा दर्शन और अर्थ दर्शन के संबंध में तीसरी धारा साहित्य चिंतन नाट्य शास्त्र/काव्य शास्त्र/अलंकार शास्त्र की है। नाट्य शास्त्र जिसकी रचना छठी शताब्दी ई.पू. मानी जाती है, भरत मुनि की कृति मानी जाती है। भरत का उल्लेख कालिदास के यहाँ भी मिलता है। भरत मुनि का वाद आने वालों में भामह (काव्यालंकार), दण्डी (काव्यादर्श), वामन (काव्यालंकार सूत्रावर्ती) और उदभट (काव्यालंकार सार संग्रह) ने काव्य संबंधी प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया। नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन ने भरत के रस सिद्धांत को विधिपूर्वक काव्य पर चरितार्थ करते हुए काव्यभाषा की बहस को अपनी प्रसिद्ध कृति ध्वन्यालोक में स्थापित किया। काव्य शास्त्र की इन परंपराओं को अभिनवगुप्त, धनंजय, भोज, विश्वनाथ, नागभट्ट, हेमचंद्र जयदेव, जगन्नाथ और दूसरों से परिवर्धित किया।

भारतीय चिंतन परंपरा में शब्द के दो रूप हैं। स्फोट नित्य है और ध्वनि अनित्य। वैयाकरणों ने प्रकृति और प्रत्यय, स्फोट और ध्वनि के जिस सिद्धांत की स्थापना की है उसका स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में प्रतिपादन यजुर्वेद के 40वें अध्याय में है जो ईशोपनिषद के नाम से भी जाना जाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में वैयाकरणों के सिद्धांत का उल्लेख किया है कि समस्त शास्त्रों का विवेचन केवल उपयोगिता के लिए है। ध्वनि संकेत तत्त्व को प्रकट करने में असमर्थ है, क्योंकि तत्त्व आत्मसाक्षात्कार का विषय है। वह स्वानुभूति संबंध है। जिस प्रकार रेखाचित्र से गाय का बोध कराते हैं जो वस्तुतः

असत्य है। उसी प्रकार ध्वनि के द्वारा स्फोट का ज्ञान प्राप्त होता है। (पुण्यराज, 2, 234-40)।

ऋग्वेद का कथन है कि वाक्त्व को पद विभाजन की दृष्टि से चार पदों में विभक्त किया गया है। नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात। (चरग 01.164.45)। नागेज्ञा ने इसकी व्याख्या में कहा है। इन विभागों के पारिभाषिक नाम हैं—परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से तीन पद ज्ञान के विषय नहीं हैं और गुप्त रहते हैं। इस प्रकार उच्चारित ध्वनि संकेतों के पूर्व भाषा की कल्पना कितनी गहरी अंतर्दृष्टि रखती है। इसकी तुलना देरिदा के विचारों से की जा सकती है। अर्थ तत्व इसी वाक् तत्व का फल और फूल अर्थात् उपादेय सारांश है। निरूक्त 1.20 वाक् तत्व और मन्स तत्व के सुंदर उपदेश ऐतरेय उपनिषद् के मंगलाचरण और उपसंहार से प्राप्त होते हैं कि वाक् तत्व की मनस्तत्व में प्रतिष्ठा होनी चाहिए और मनस्तत्व की वाक् तत्व में।

*वाङ्गमे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठिताम्।*

- (ऐतरेयोपनिषद्)

वैयाकरण स्फोटवाद का समर्थक है। 'विवर्त' अतात्विक ज्ञान (भ्रम माया) को कहा गया है। भर्तृहरि भी अर्थ को शब्द का विवर्त मानते हैं। शब्द का कई बार प्रकृति के रूप में या अस्तित्व के अर्थ में वर्णन मिलता है और कई बार ध्वनि संकेत के रूप में। परंतु यह स्पष्ट है कि प्रकृति को संकेतों के द्वारा हम समझ रहे हों या शब्द के अर्थ को उसकी अनिश्चितता असंदिग्ध है। जहाँ भर्तृहरि तथा अन्य शब्द को अनादि और अनंत मानते हैं। वहाँ शब्द प्रकृति के अर्थ में है। शब्द

के इन रूपों का वर्णन कुमारिल के इस श्लोक से होता है—

*तत्वावबोधः शब्दानो नास्ति श्रोतेंद्रियाहते।*

शब्दों का तात्विक ज्ञान श्रोत्रेंद्रिय के बिना नहीं होता—अर्थात् सुना जाने वाला शब्द और शब्द (प्रकृति या ब्रह्मबोधक) इन दो शब्दों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

पतञ्जलि ने व्याकरण को शब्दानुशासन नाम से संबोधित करते हुए महाभाष्य प्रारंभ किया है। पतञ्जलि ने व्याकरण का विषय लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों को बताया है। 'लौकिकानां वैदिकानां च' (महा. अ.)। पतञ्जलि ने शब्द के अनुशासन को व्याकरण का विषय बताया है। अतः यह स्वाभाविक है कि शब्द क्या है, उसका स्वरूप क्या है, इनका विवेचन पतञ्जलि करते हैं। उन्होंने लिखा है कि लोक में शब्द और अर्थ में अभेद रूप से व्यवहार देखा जाता है। 'अयं गौः अयं शुक्लः' यह गौ है यह शुक्ल है, यहाँ गौ शब्द और गौ वस्तु के पृथक् ज्ञान को वह आवश्यक नहीं समझते हैं। वह पूछते हैं कि क्या भिन्न वस्तुओं में अभिन्न रूप से और पृथक् रहने वाली जाति शब्द है? नहीं, वह जाति है। इन उत्तरों द्वारा पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि शब्द द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति से भिन्न सत्ता है। वह क्या है, इसका उत्तर देते हैं। जिसके उच्चारण से सास्ना, लांगूल आदि से युक्त वस्तु का ज्ञान होता है—

*येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गुलककुदेरतुरविषणिनां  
संप्रत्ययो भवति स शब्दः । (महा.आ.)*

इतना ही नहीं पतञ्जलि लोक में प्रचलित ध्वनि को शब्द कहते हैं, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। पतञ्जलि ये भी मानते हैं कि उच्चरित

ध्वनि से अर्थ ज्ञान होता है। परंतु वह पूछते हैं कि पाणिनी ने पहले से विद्यमान शब्दार्थ संबंध के विषय में व्याकरण बनाया है या सर्व अनित्य मानकर नए शब्द और नए अर्थ की सृष्टि की है। इस संबंध में वेद आदि का प्रमाण न देकर लोक व्यवहार को ही प्रमाण बताया है।

**लोकतः लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द प्रयोगे यज्ञस्त्रेण धर्म नियमः।**  
(महा.आ.)

लोक व्यवहार में शब्द का जो अर्थ विद्यमान है उसी के विषय में विवेचन करके धर्म की प्रतिष्ठा करता है। पाणिनी स्वयं अर्थ के विषय में लोक व्यवहार को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

**प्रधान प्रत्ययोर्कवचनमर्व्यस्याऽन्सप्रमाणत्वोत् !**  
(अष्ट.1,3,5,6)

जहाँ शब्द एक ओर बाह्य अर्थ का बोध कराता है वहीं शब्द और अर्थ का संबंध बुद्धिगत है। भर्तृहरि के अनुसार इतना ही नहीं कि एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने ज्ञान और वासना भेद से विभिन्न समझते हैं, अपितु काल या अवस्था भेद से एक ही व्यक्ति शास्त्र और वासना की अनियता के कारण क्रमशः विभिन्न रूप से समझता है। विभिन्न व्यक्ति एक ही शब्द का स्वज्ञानानुसार विविध अर्थ समझते हैं (वाक्य 2.1.36)।

भर्तृहरि और पुण्यराज का कथन है कि शब्द अर्थ के स्वरूप को स्पर्श नहीं करते, अपितु दूर रहते हुए ही अर्थ का संकेत करते हैं तथा इस व्यवहार के लिए उपयोगी होते हैं। शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह अर्थ के मूल स्वरूप को स्पर्श कर सके (पुण्यराज वाक्य-2.4.82)। भर्तृहरि आगे लिखते हैं पदों में तबतक सार्थकता नहीं

आती जबतक कि वे वाक्य का रूप न प्राप्त कर लें। वाक्य के अतिरिक्त पद की कोई सार्थकता नहीं है। वाक्य ही सार्थक है। दूसरी बात पतञ्जलि ने महाभाष्य में सबसे प्रथम अन्वय व्यतिरेक के महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया है और अर्थ निर्णय या अर्थ ज्ञान के लिए अन्वय और व्यतिरेक को मनुष्य साधन माना है।

अन्वय और व्यतिरेक द्वारा यह निर्णय स्पष्ट रूप से किया जाता है कि शब्द में यह अर्थ प्रकृति का है या अर्थ प्रत्यय का है। यहाँ ज्ञात हो अन्वय जिसे होने पर वह होता है। व्यतिरेक : जिसके न होने पर वह हो।

**सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम् (महा 1.2.45)**

हेलराज ने तो वाक्य पदीय की व्याख्या करते हुए लिखा कि शब्द अपूर्ण अर्थ का बोध कराता है। शब्द से विकल्पात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः कहा गया है कि शब्द विकल्पों के कारण है और विकल्प शब्दों के कारण। (तदुक्तम विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्द योनयः) भर्तृहरि ने कहा है कि वक्ता एक अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है परन्तु भिन्न-भिन्न श्रोता उसको अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ में लेते हैं (वाक्य. 2.1.37)। सबकी प्रतिभा, अनुभव, ज्ञान और ग्रहण शक्ति समान नहीं है। अतएव अर्थ समान, व्यवस्थित और निश्चित नहीं रहता (वाक्य 2.1.39)।

भर्तृहरि ने लिखा है कि शब्द और अर्थ का संबंध वक्ता की इच्छा के अधीन रहता है। प्रयोक्ता जिस शब्द का अर्थ जिस अर्थ में प्रयोग करता है उसी प्रकार उसका स्वरूप हो जाता है। पद का

अर्थ वस्तुतः व्यवस्थित नहीं है, निरूपण से ही उसकी व्यवस्था होती है। एक ही अर्थ निरूपण के भेद से अन्यथा ज्ञात होता है। अतः शब्द और अर्थ का संबंध वास्तविक नहीं अपितु काल्पनिक है। भर्तृहरि के अनुसार वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश और काल से शब्दों में भेद होता है।

पतञ्जलि का मत है कि 'अर्थ गत्यर्थः शब्द प्रयोगः'। अर्थ बोधन के लिए शब्द का प्रयोग होता है। परंतु अर्थ बोधकता संदिग्ध होने पर भी वाक्य में प्रयुक्त शब्द से किस प्रकार निश्चित अर्थ ज्ञात होता है। और अर्थबोधन के लिए शब्द प्रयोग एक अच्छा साधन बन जाता है। शब्दों के द्वारा ही संसार की समस्त वस्तुओं में नामकरण द्वारा विभाजन किया जाता है (वाक्य 1.125)।

हरिवृषभ ने भर्तृहरि के उक्त श्लोक की व्याख्या में कहा है कि समस्त उत्पन्न हुई वस्तुओं में शब्द रूप नामकरण के द्वारा ही विभेद किया जाता है। भर्तृहरि ने शब्द के स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उसकी विभिन्नता का प्रतिपादन किया है।

हेलराज के अनुसार शब्द के तीन विभिन्न रूप हैं, अभिधान (शब्द), अभिधेय (अर्थ) और निमित्त (संबंध)। इन तीनों के कारण भर्तृहरि ने स्वरूप शब्द का बहुवचन नान्त प्रयोग किया है। गौतम ने कहा यदि शब्द और अर्थ का संबंध वस्तुतः स्वाभाविक और नित्य है तो एक ही शब्द का विभिन्न देश एवं विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ नहीं होता।

नैयायिकों और वैशेषिकों ने शब्द और अर्थ में संबंध न मानने पर यह अनुभव किया है कि तब

संसार का काम ही नहीं चल सकता। अतएव न्याय दर्शन में गौतम ने कहा कि शब्द और अर्थ में संबंध दीख पड़ता है। अतः संबंध का निषेध नहीं किया जा सकता है। परंतु यह संबंध सांकेतिक है। (न्यायसूत्र 2.1.54-55) कण्ड ने भी शब्दार्थ संबंध को सांकेतिक ही स्वीकार किया है। वात्स्यायन (न्यायसूत्र 2.1.55) के भाष्य में कहा है कि वाच्य-वाचक नियम का विनियोग ही संकेत है।

अंततः बौद्ध दर्शन के अपोहवाद पर भी एक दृष्टि आवश्यक है। बौद्ध दार्शनिक शब्द और अर्थ में कोई संबंध नहीं मानते। उनके मतानुसार शब्द से अर्थ का ज्ञान इस प्रकार होता है जैसे— गाय शब्द गाय का बोध नहीं कराता अपितु प्रथम अपोह अर्थात् अन्य पशुओं (अश्व आदि) की व्यावृत्ति करता है। तदनंतर इस अपोह के द्वारा अन्य की व्यावृत्ति होने पर अनुमान से ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह गाय है। रत्नकीर्ति ने अपोह सिद्धि में अपने विचार का निरूपण करते हुए लिखा है कि हम अपोहवाद से केवल विधि को ही ग्रहण नहीं करते न केवल अन्य की व्यावृत्ति अपितु अन्य व्यावृत्ति विशिष्ट विधि शब्दों का अर्थ है गाय कहने पर गाय भिन्न का निषेध करके गाय का ज्ञान कराना। रत्नकीर्ति ने यह भी स्पष्ट किया है कि निषेध और विधि ये दोनों ज्ञान आगे पीछे नहीं अपितु एक साथ होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट देखा जा सकता है कि सास्युअर के विचारों को संस्कृत भाषा संबंधी अध्ययन से ही अंतर्दृष्टि मिली थी। ज्ञात हो कि वह संस्कृत विषय का ही विद्यार्थी रहा था। अंत में संकेत ग्रह अर्थात् अर्थ ग्रहण के आठ साधन माने गए हैं जो इस प्रकार हैं—(1) व्याकरण, (2)

उपमान, (3) कोष, (4) आप्तवाक्य, (5) व्यवहार, (6) वाक्य शेष, (7) विवरण, (8) ज्ञात पद के साहचर्य से।

अतएव, आचार्यों ने वेदों, उपनिषदों, संहिताओं एवं व्याकरण की पाँच हजार वर्ष लंबी परंपरा में निम्न बातें प्रतिपादित की हैं—

- शब्द अर्थ का आभास प्रदान करते हैं।
- शब्द के अर्थ प्रदत्त हैं।
- शब्द में अर्थ मूलतः लोक व्यवहार द्वारा प्रतिपादित है।
- वह असत्य है।
- अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अर्थ ज्ञान संभव होता है।
- अर्थ सांकेतिक है।
- वह विकल्पात्मक है।

शब्द और अर्थ के बाद साहित्य के बारे में भारतीय चिंतकों के विचारों पर एक संक्षिप्त चर्चा उपयुक्त है। सर्वप्रथम काव्य शास्त्र के आदि आचार्य भामह ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में ही कहा— *शब्दार्थौ सहितौ काव्यं*। शब्द और अर्थ के साहित्य का नाम काव्य है। 11वीं शताब्दी में भी अलंकार सर्वस्वरकार रूप्यक ने भी *साहित्य मीमांसा* नामक दूसरा ग्रंथ लिखा था। आधुनिक युग में प्रयुक्त होने वाले शब्द साहित्य का श्रेय 14वीं शताब्दी के विश्वनाथ को जाता है। जिन्होंने अपने ग्रंथ को *साहित्य दर्शन* नाम दिया।

भारतीय काव्य शास्त्र या साहित्य शास्त्र के सर्वप्रथम प्रतिपादक भरत मुनि को ही माना जाता है। वे समस्त भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धांतों के अग्रदूत माने जाते हैं। 9वीं शताब्दी में आनंदवर्धन

ने भरत के रस सिद्धांत को विधिपूर्वक काव्य पर चरितार्थ करते हुए काव्य भाषा पर विमर्श की अपनी प्रसिद्ध कृति *ध्वन्यालोक* में स्थापित किया। अभिनव गुप्त ने नाट्य शास्त्र पर नए सिरे से विचार कर अपनी नई टीका *अभिनव भारती* लिखी। आगे चलकर कई विद्वानों ने इसे समृद्ध किया।

भरत मुनि के काल का निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है। जो लोग भरत मुनि को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं वे उनका काल 500 वि.पू. से लेकर प्रथम शताब्दी के बीच में मानते हैं। वैसे तो भरत मुनि के ग्रंथ का नाम *नाट्य शास्त्र* है परंतु उसे उचित ही समस्त कलाओं का विश्वकोश कहा जाता है। रस की अनुभूति का मुख्य कारण मन के भीतर स्थित स्थायी भाव है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उदबोधक सामग्री को पाकर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में अपूर्व आनंद का संचार कर देता है। *‘व्यक्तः स वैर्विभावाधैः स्थायि भावोरसः स्मृतः’* कहा गया है। अर्थात् उन पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायी भाव को रस कहते हैं। व्यवहार में मनुष्य को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है उसको ध्यान में रखकर प्रायः आठ प्रकार के स्थायी भाव साहित्य में माने गए हैं। काव्य प्रकाश में उनकी गणना इस प्रकार की गई है—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौभयं तथा।  
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् (1) रति, (2) हास, (3) शोक, (4) क्रोध, (5) उत्साह, (6) भय, (7) जुगुप्सा या

घृणा, और (8) विस्मय यह आठ स्थायी भाव कहलाए। इसके अलावा निर्वेद को भी नौवा स्थायी भाव माना गया है। इन नौ प्रकार के स्थायी भावों के अनुरूप ही (1) शृंगार, (2) हास्य, (3) करुण, (4) रौद्र, (5) वीर, (6) भयानक, (7) वीभत्स, (8) अदभुत और (9) शांत रस माने गए हैं। ये नौ स्थायी भाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। इसलिए स्थायी भाव कहलाते हैं। सामान्य रूप से वे अव्यक्तावस्था में रहते हैं। किंतु जब जिस स्थायी भाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त होता है।

*विभावमनुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पतिः!* (भरत मुनि)। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस निष्पति होती है। यहाँ संपूर्ण अवचेतन की गहरी समझ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। (1) रस अनुभूति के कारणों को विभाव कहते हैं। आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव। (2) अनुभाव—स्थायीभाव रसानुभूति का प्रयोजक अभ्यंत अंतरंग कारण है। आलम्ब तथा उद्दीपन रसानुभूति का बाह्य कारण है। उसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव अंतर रसानुभूति से उत्पन्न एवं उसके बाह्य अभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक एवं मानसिक व्यापार हैं। इन्हें रस का कारण, कार्य तथा सहकारी कहा गया है।

भारतीय चिंतन परंपरा की यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि गूढ तत्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ शास्त्र कहे जाते हैं। काव्य का जीवनधारक तत्व रस है। *सद्यः परिनिवृत्ति*। काव्य

की उपदेश शैली में न शब्द की प्रधानता होती है न अर्थ की। वहाँ शब्द-अर्थ दोनों गुणीभाव हरेक केवल रस की प्रधानता होती है। यह शैली वेद-शास्त्र की शब्द प्रधान तथा इतिहास पुराण की अर्थप्रधान दोनों शैलियों से भिन्न मानी गई। पाठक के लिए काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है। यहाँ आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा के उद्गार का उल्लेख प्रासंगिक है,—

*“यह विचित्र विरोधाभास है कि यूरोप में भाषा विज्ञान के अध्ययन का आरंभ संस्कृत के अध्ययन और परिज्ञान से प्रेरित हुआ, और हिंदी में यूरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप”*

(देवेंद्रनाथ शर्मा, भाषा विज्ञान की भूमिका, पृ. 325)।

## उत्तर संरचनावाद

यूरोपीय साहित्य चिंतन एवं उसके निष्कर्ष की चर्चा में उत्तर संरचनावाद/विरचनावाद पर विचार कर लेना भी उचित है। 1966 में जॉन हॉपकिंस विश्वविद्यालय के उस प्रसिद्ध सेमिनार, जो यद्यपि संरचनावाद पर विचार-विमर्श हेतु आयोजित किया गया था, किंतु जाक देरिदा की उपस्थिति और उसके आलेख से यही सेमिनार अनंतर विरचनावाद का प्रस्थानबिंदु सिद्ध हुआ। एक वर्ष के अंदर 1967 में पैरिस से देरिदा की तीन पुस्तकें सामने आयीं जिनका अँग्रेजी अनुवाद अमरीकी विश्वविद्यालयों में हाथों हाथ लिया गया। (1) *Of Grammatology*, (2) *Writing and Difference* तथा (3) *Speech and Phenomena*.

उत्तर संरचनावादी विमर्श की प्रकट विशेषता यह है कि वह अर्थोत्पत्ति की प्रक्रिया को स्वरूप



की दृष्टि से तत्त्वतः अस्थिर मानता है। संकेत दो निश्चित पार्श्व रखने वाली ईकाई नहीं है, वरन् यह दो गतिधर्मी पार्श्वों में क्षणिक मैत्री है। यद्यपि सास्युअर ने स्वीकार किया था कि संकेतक एवं अर्थ दो अलग-अलग तंत्र हैं किंतु वह इस बात पर विचार नहीं कर सका कि दो तंत्र परस्पर संश्लेषित होते हैं तो अर्थ का एकत्व अस्थिर हो जाता है। भाषा को एक विषय भाषिक तंत्र घोषित करने के अनंतर जो बाह्य यथार्थ से स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। यद्यपि उसने संकेत को संश्लेषित रखने का प्रयास किया, किंतु उसके दो हिस्से मानकर उसने उसकी संगति को शून्य हो जाने का मार्ग भी खुला छोड़ दिया।

प्रश्न उठता है कि संकेत के अद्वितीयत्व की पुष्टि क्या उस समय होती है जब हम शब्द कोष में किसी शब्द के अर्थ को देखते हैं। सच यह है कि शब्दकोष संकेत के अद्वितीयत्व की पुष्टि नहीं करता, वरन् उसके उल्टे अर्थ के भेद की पुष्टि करता है। ज्यों-ज्यों किसी शब्द की परिभाषा स्थापित करने की प्रक्रिया में आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों दूसरे शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। प्रत्येक शब्द के लिए दूसरे शब्द, दूसरे शब्द के लिए दूसरा और हर शब्द अपने अर्थ के लिए दूसरे शब्द का मुखापेक्षी है। यह एक अंतहीन क्रम है जो निरंतर वर्तन में रहता है। अर्थात् शब्द एवं अर्थ का एकत्व तार्किक रूप से कभी सिद्ध नहीं हो सकता। सास्युअर के भाषादर्शन में संकेत समुच्चय है। संकेतक एक संकेतित का और ये दोनों मिल कर ईकाई रूप में क्रियाशील होते हैं। उत्तर संरचनावाद ने इस एक्य का टाँका खोल दिया— अर्थ के ऐकिक

एवं निर्धारित होने का रहासहा आधार भी लुप्त हो गया। स्पष्टतः उत्तर संरचनावाद का झुकाव सृजनात्मकता एवं अर्थबाहुल्य पर था।

भाषा कोई अरंजित पारदर्शी माध्यम नहीं है अपितु स्वयं अवधारणा है। जिसके अंदर हम यथार्थता को नहीं, बल्कि यथार्थता की संकल्पना को देखते हैं। वार्थ का कहना है कि एक साहित्यिक का सबसे बड़ा अपराध यह है कि वह यह कहकर पाठक को पथभ्रष्ट करे कि भाषा कोई साफ, सुथरी पारदर्श माध्यम है जिसके द्वारा सच्चाई या यथार्थ को देखा जा सकता है। कोई भी कृति सैकेंड ऑर्डर सिस्टम है न कि फस्ट ऑर्डर सिस्टम। वार्थ ने डेथ ऑफ द ऑथर में लिखा—

“साहित्य लिखता है, साहित्यकार नहीं। तात्पर्य यह भी है कि साहित्य शून्य में जन्म नहीं लेता। यदि लेखन का पहले से अस्तित्व न हो तो कोई कृति या कृतिकार लिख ही नहीं सकता। प्रत्येक कलाकृति मात्र परिवर्धन है। कृतिकार जिस संस्कृति, जिस भाषा, जिस परंपरा से पोषित है, वह लाख विद्रोह और विमुखता दिखाए लिखेगा उसी परंपरा और काव्य शास्त्र की परिधि में। कई कलाकृति अपने सांस्कृतिक तंत्र से बाहर न लिखी जा सकती है न समझी”।

उत्तर-संरचनावाद विशिष्ट साहित्यिक अभिव्यक्ति को साहित्यिक अभिव्यक्ति के संपूर्ण तंत्र के अधीन करके कलाकृति और कृतिकार दोनों को आनुशांगिक हैसियत देता है। उनकी खोज उस तंत्र की है जिसके आलोक में कलाकृति रची गई है। तथा जिस तंत्र के अधीन वह पढ़ी और

समझी जाएगी। उत्तर संरचनावादियों के अनुसार साहित्यिक अभिव्यक्ति (पाठ) पहले से लिखे हुए तंत्र के आलोक में गठित है।

समसामयिक थ्योरी का केंद्रीय वादानुवाद वही है जो दर्शन का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, यानी मानव क्या है, या मानव चेतना क्या है। नए दर्शन उसके लिए ह्यूमन सब्जेक्ट व्यक्ति एवं सब्जेक्टिविटी व्यक्तिपरकता के पदसंबंध का प्रयोग करते हैं। सब्जेक्ट-उसे पूर्व के अध्यात्मिक, सामाजिक, वंशगत, यौनपरक, बौद्धिक अथवा संवेगात्मक पूर्वकल्पित अवधारणा से मुक्त करके देखता है। देकार्त 16वीं शताब्दी में कह चुका था—“मैं हूँ क्योंकि मैं सोचता हूँ”। कार्टीसीयर्ड परंपरा में मनुष्य की पहचान चेतनाधृत थी, अर्थात् चेतना केंद्र की मानव संकल्पना का, किंतु 20वीं के आते-आते यह स्पष्ट हो गया कि चेतना निसर्गतः अस्तित्व नहीं रखती, मैं निर्मिति मात्र है विमर्श की और जो वस्तु स्वयं निर्मित है अर्थात् केंद्रहीन है वह मानवीय संकल्पना का केंद्र कैसे हो सकता है। (Human subject) व्यक्ति के मात्र निर्मित सिद्ध होने से अर्थ के ऐच्छिक होने का आधार स्वतः डगमग हो गया, क्योंकि यदि निज रूप अडिग अस्मिता से रिक्त है और स्वरूप की दृष्टि से अस्थिर एवं परिवर्तनोन्मुख, तो वह अर्थ का सत्ता संस्थान कैसे हो सकता है।

इस परिवर्तन में कार्ल मार्क्स, सिगमंड फ्रायड और एडम हुसल तीनों ही दार्शनिकों का अपने-अपने तरीके से योगदान है। मार्क्स ने यह समझने का प्रयास किया कि प्रदत्त ऐतिहासिक

स्थितियाँ जिन्हें पूर्णतया समझने में भी मनुष्य समर्थ नहीं होता उनके आधार पर किस प्रकार वह अपना सामाजिक विश्व निर्मित कर लेता है। और मनुष्य उस प्रवंचना का शिकार होता है जो उसने दे रखा है। इस दृष्टि से मार्क्स का विचार फ्रायड का पूर्वगामी है। फ्रायड ने भी यह माना कि मानव अपनी प्रवंचनाओं के अनुसार और उनके बल पर जीता है। लकां के अनुसार ‘द ओबवियस हैज मेड अस ब्लाइंड’। हमें जो ज्ञात है उसने हमारी आँखों पर पट्टी बाँध रखी है। जिसे हम परिचित यथार्थ कहते हैं उसने हम से यथार्थ को परखने की सामर्थ्य छीन ली है। हमारी विचार-शक्ति को निष्प्राण कर दिया है।

मानवीय संकल्पना की कार्टिसियाई परंपरा जो प्रत्ययवाद पर आधृत था, उसका प्रथम निरूपण मार्क्स और फ्रायड के यहाँ मिलता है। लकां के अनुसार फ्रायड की मूल अंतर्दृष्टि यह नहीं थी कि अवचेतन अस्तित्व रखता है, बल्कि यह कि अवचेतन संरचना रखता है और यह संरचना हमारे कर्मों एवं कृतियों को इस सीमा तक और इस ढंग से प्रभावित करता है कि उसका विश्लेषण किया जा सकता है। न केवल फ्रायडोत्तर भाष्यकारों ने अवचेतन के संदेश के प्राबल्य को कम करके प्रस्तुत किया, अपितु अवचेतन के अनुसंधान एवं उसकी प्रक्रिया की अपरिमित स्थितियाँ उत्पन्न करने वाली संरचना इस कदर भयावह थीं कि स्वयं फ्रायड पौराणिक एवं पराभौतिक चिंतन के निरापद विश्व में शरण लेने पर विवश हो गया।

लकां ने इगो की स्वायत्तता को तहस-नहस करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। माननीय

चित्त के बारे में फ्रायड के अन्वेषण इस कदर स्तब्धकारी थे कि उन्हें अनंतर अप्रीतिकर समझ कर दबा दिया गया। इड अवचेतन का विक्षुब्ध संवेग है जो इगो की सत्ता एवं स्थिरता को वंचित करने की घात में रहता है। उसके अनुसार इगो भाषा के प्रतीकात्मक तंत्र में अवस्थित है। यह एक काल्पनिक निर्मित है, मानव समझता है यह किसी दृढ़ अस्मिता का आधार है, जबकि ऐसा नहीं है। इस प्रकार व्यक्ति के मात्र निर्मित होने से अर्थ के ऐकिक होने का आधार स्वतः डगमग हो जाता है।

लकां के आधार पर अल्थूसर ने लिखा—  
 “जब मानव/व्यक्ति स्वयं स्वायत्त या आत्मनिर्भर नहीं तो अर्थ के निर्धारण एवं वरण का सकेन्द्र स्वतः ध्वस्त हो जाता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वयं विभिन्न विचारधारात्मक माध्यमों जैसे—परिवार, धर्म, संस्कृति, शिक्षा, मीडिया, कला एवं साहित्य आदि से मानसिक निर्मिति के रूप में समाहत होता है। किंतु उसे विश्वास दिलाया जाता है कि वह स्वतंत्र कर्ता है। दूसरे अर्थों में उसे पैदा किया जाता है ताकि वह यह प्रभाव दे कि वह किसी की पैदावार नहीं। यद्यपि मनुष्य की कोई स्वाधीनता इस के अतिरिक्त नहीं कि वह अपने दासत्व को बिना चूँ-चपड़ के स्वीकार कर ले। ऐसी स्थिति में वह सारा जीवंत अनुभव, जिसे मनुष्य झेलता है और जिसमें जीने के लिए वह विवश है, यानी अपने जैविक शरीर के अतिरिक्त मनुष्य जो भी है वह उसकी विचारधारात्मक स्थिति है।

क्या इसे ही प्राच्य विद्या में ‘माया’ कहा जाता है? अर्थात् मनुष्य स्वतंत्र कर्ता नहीं अपितु प्रवंचना के बल पर जीता है। और जिस चीज को सहज बुद्धि कहते हैं वह वस्तुतः हमारी प्रवंचनाओं का अवगुंठन है”।

हुर्सल ने कहा था, “*The familiar concepts are the problems not the solution*”। अस्तित्ववादियों के अनुसार मनुष्य की स्थिति जो भी हो उसे इस मूल प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि वह क्या है, वह कौन है। अस्तित्ववादियों के अनुसार निर्णय के दायित्व का बोध नहीं रखना एक प्रकार की दुरास्था या जालीपन है। निज के अस्तित्व की प्रमाणिकता इसमें है कि मनुष्य साहसपूर्ण निर्णय के उत्तरदायित्व का सामना करे। क्योंकि अस्तित्व का प्रश्न एक खुला प्रश्न है और उसके उत्तर पर ही मनुष्य की विश्वसनीयता निर्भर है।

मानव व्यक्ति का अपकेंद्रण सकल नव्य दर्शनों की आधारित समस्या है। 20वीं सदी के कथा साहित्य में चाहे ज्वायस हो या काफ़्का, सबसे बड़ा संकट पहचान का संकट है। अब शायद ही कोई उदारवादी मानववाद की खुशफहमियों को संदेह से न देखता हो, समय इन प्रवंचनाओं से आगे निकल गया है। गत अर्धशती में मानव विचरण की विकास गाथा इस दुःख भरे स्वीकार की कथा है। वह इलीयट का वेस्टलैंड हो या बेकेट का वेटिंग फॉर गोड अलबता प्रश्न यह है कि माननीय परंपरा के ध्वंसावशेषों पर खड़ा मनुष्य क्या कर सकता है। धर्म/दर्शन, पूर्व/पश्चिम, नारीवाद इनमें इसे तलाश किया जा रहा है। डेकार्त और कांट के विपरीत

आत्मसंज्ञान का आधार अस्ति पर नहीं वरन् आत्मसंज्ञान के नकार पर है। इससे क्या प्राच्य परंपरा से मेल खाती है जहाँ वैयक्तिक चेतना एक प्रवाहमान समष्टिगत चेतना में समाविष्ट होकर उसके अंग होने में ही उसका अर्थ देखता है? देरिदा ने भाषा के लाक्षणिक स्वरूप पर अपनी निर्मम शल्यक्रिया से सिद्ध किया है कि परंपरा ने जो अर्थ निर्धारित कर दिए हैं, अर्थ मात्र उतना ही नहीं। ज्ञान और शक्ति के खेल में जो अर्थ दब गए हैं अथवा दबा दिए गए हैं, देरिदा ने उन्हें खोलने का यत्न किया है और उन पर

ध्यान सकेंद्रित किया है। उसकी सारी बातों का निष्कर्ष यह है कि भाषा की शब्द-केंद्रत्व से मुक्ति संभव नहीं है। यह अंतर्विरोधों से परिपूर्ण है। स्वयं विरचनावादी अध्ययन भाषा का सहारा लेता है और भाषा शब्द-केंद्रत्व से बच नहीं सकती। इसलिए उसके विश्लेषण जैसे दूसरे पाठों को विरचित करते हैं, वैसे ही स्वयं को भी विचरित कर सकते हैं। अतएव अर्थ की केंद्रहीनता को प्रकट कर देरिदा ने अर्थ की अनिश्चयात्मकता के जो द्वार खोले हैं उन्हें दर्शन और साहित्य में बंद करना सरल नहीं है।

# बाल श्रम की सामाजिक समस्या शैक्षिक उद्बोधन

कनक शर्मा\*

बाल श्रम प्रतिषेध (निषेध) एवं विनियमन कानून, 1986 के अनुसार बाल श्रम का अर्थ हर, उस काम से है, जो 14 वर्ष व उससे कम उम्र के बच्चे से उसकी इच्छा से या इच्छा के विरुद्ध कराया जाता है। श्रम मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 5 से 14 आयु वर्ग का हर चौथा बच्चा बाल श्रमिक है। किसी भी देश का सुनहरा भविष्य, देश की प्रगति व विकास उस देश के बच्चों पर ही निर्भर करता है। अतः जबतक बाल श्रम की इस सामाजिक समस्या को जड़ से समाप्त नहीं किया जाएगा तबतक देश की प्रगति व विकास संभव नहीं है। प्रस्तुत लेख में भारत में बाल श्रम की स्थिति, बाल श्रम के लिए उत्तरदायी कारणों—गरीबी व निरक्षरता, शिक्षा का रोजगारपरक ना होना, सस्ती दरों पर उपलब्धता इत्यादि बाल श्रम को रोकने के लिए किये गए प्रयासों—भारतीय संविधान में वर्णित बाल श्रम से संबंधित अनुच्छेदों, इंडस परियोजना, राष्ट्रीय बाल श्रम परियोजना, शैक्षिक प्रयासों इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है तथा मुख्य रूप से उन शैक्षिक सुझावों, प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था, बाल श्रमिकों के लिए छात्रवृत्तियाँ, श्रमिक स्कूलों की अवधि बढ़ाकर 5 साल करना, बाल श्रमिकों के लिए आवासीय शिविरों का आयोजन, आवासीय विद्यालय व आश्रमों की स्थापना करना इत्यादि को प्रस्तुत किया गया है, जो बाल श्रम की समस्या को समाप्त करने व बाल श्रमिकों को शिक्षा की मुख्य धारा से जोड़ने हेतु सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

प्रायः कहा जाता है कि बच्चे देश का भविष्य होते हैं, किन्तु जब यही बच्चे 14 वर्ष से कम आयु में ही होटलों अथवा रेस्टोरेंटों में मेजों की गंदगी साफ

करने, गंदे बर्तनों को धोने, कल-कारखानों के दूषित वायुमंडल में खतरनाक मशीनों पर काम करने अथवा मालिकों और संयोजकों की झिड़कियाँ

\*शोध छात्रा, शिक्षा संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ. प्र.

सुनने को मजबूर हो जाएँ तब भला इन्हें देश का भविष्य कैसे कहा जा सकता है? जिस आयु में बच्चों के हाथ में कलम होनी चाहिए, उन्हें स्कूल की बेंच पर बैठकर अपना पाठ याद करना चाहिए तथा एक आदर्श नागरिक बनने के लिए उचित सुसंस्कार ग्रहण करने चाहिए, उस आयु में ये बच्चे अपने परिवारों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बीड़ी उद्योग, गलीचा उद्योग, माचिस व आतिशबाजी उद्योग, ईंट उद्योग, खनन व निर्माण कार्यों में अपना बचपन बेचते देखे जा सकते हैं।

### कौन है बाल श्रमिक?

बाल श्रम का प्रारंभ तब से माना जाता है जब से विश्व में औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप नये उद्योगों की स्थापना होना प्रारंभ हुआ। पूंजीवादी वर्ग के द्वारा अपना मुनाफा बढ़ाने के उद्देश्य से मजदूरों के बच्चों को भी अपने कल-कारखानों में मजदूरी पर रखना प्रारंभ कर दिया गया। इस प्रकार बाल श्रमिकों से नियोजकों को काफी लाभ प्राप्त होने लगा। जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न कल-कारखानों के मालिकों ने अपने यहाँ बाल श्रमिकों को प्राथमिकता देना प्रारंभ कर दिया और तब से यह सिलसिला जारी है।

बाल श्रमिकों के मानक पर विश्व में मतैक्य नहीं है। **जेनेवा** (स्विट्जरलैंड) स्थित अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) ने बाल श्रम पर अपनी रिपोर्ट में बाल श्रमिकों को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है—

*“ये वे किशोर नहीं हैं जो दिन में कुछ घंटे खेल और पढ़ाई से निकालकर खर्च के लिए काम करते हैं। वे बच्चे भी नहीं हैं जो*

*पारिवारिक जमीन पर खेती में मदद करते हैं या घरेलू कार्यों में मदद करते हैं, बल्कि ये वे मासूम बच्चे हैं जो वयस्कों की जिंदगी बिताने को मजबूर हैं। कल-कारखानों, घरों, ढाबों व अन्य स्थलों पर कठोर श्रम करते हुए ये बच्चे शिक्षा, खेल-कूद, मनोरंजन यहाँ तक कि स्वस्थ जीवन से भी वंचित हो जाते हैं।”*

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार 15 वर्ष तक के श्रमिक को बाल श्रमिक माना जाता है। संयुक्त राष्ट्र संगठन के अनुसार 18 वर्ष से कम आयु का श्रमिक बाल श्रमिक कहलाता है। अमरीकी संविधान 12 वर्ष से कम आयु के श्रमिक को बाल श्रमिक मानता है। जबकि भारतीय संविधान के अनुसार जीविकोपार्जन अथवा पारिवारिक कर्ज चुकाने के लिए मानसिक व शारीरिक श्रम करने वाले 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को बाल श्रमिक कहा जाता है।

### भारत में बाल श्रम की स्थिति

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के आँकड़ों के अनुसार वर्तमान में विश्व में 10 करोड़ बच्चों को अपनी आजीविका के लिए श्रम करना पड़ता है और आश्चर्यजनक बात यह है कि इनमें से 4 करोड़ 44 लाख सिर्फ भारत में हैं।

श्रम मंत्रालय के एक सर्वेक्षण के अनुसार औसतन भारत के हर तीसरे परिवार में एक बाल श्रमिक होता है। दूसरे शब्दों में 5 से 14 आयु वर्ग का हर चौथा बच्चा बाल श्रमिक है। **यूनीसेफ** की रिपोर्ट के अनुसार भी विश्व में सबसे अधिक अशिक्षित और बाल श्रमिकों की संख्या भारत में ही है। बाल श्रमिकों की यह संख्या विभिन्न आँकलनों के अनुसार भिन्न-भिन्न है।

हमारे देश की कुल आबादी का 15.42% बच्चे हैं और अन्य देशों की तरह भारत में भी बाल श्रम की समस्या विकराल रूप लेती जा रही है। यूनेस्को ने भारत को उन देशों में शामिल कर दिया है, जो सबको शिक्षा देने का लक्ष्य अभी पूरा नहीं कर पाए हैं। यूनेस्को ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि भारत में भी सबके लिए शिक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बाल श्रम है। बाल श्रम से संबंधित अधिकाँश बच्चे ग्रामीण क्षेत्रों के हैं और उनमें भी लगभग 60% 10 वर्ष से कम आयु के हैं। व्यापार एवं व्यावसायिक क्षेत्र में 23% तथा घरेलू कार्यों में 37% बाल श्रमिक कार्यरत हैं। जहाँ तक नगरीय क्षेत्रों की स्थिति का प्रश्न है तो वहाँ इन बच्चों की संख्या अधिक है जो कैंटीन, रेस्टोरेंट और फेरी लगाने में संलग्न हैं। कुछ बच्चे तो खतरनाक उद्योगों में भी कार्यरत हैं जैसे—पत्थर खनन उद्योग (आंध्र प्रदेश) में लगभग 20 हजार, माचिस एवं आतिशबाजी उद्योग (शिवकाशी, तमिलनाडु) में 50 हजार से 80 हजार, बीड़ी उद्योग (केरल और तमिलनाडु) में लगभग 7 हजार, ताला उद्योग (अलीगढ़) में 7 से

10 हजार, कालीन उद्योग में एक लाख 50 हजार, काँच उद्योग (फिरोजाबाद) में 50 हजार व रत्न पालिश उद्योग (जयपुर) में लगभग 13 हजार बाल श्रमिक कार्यरत हैं। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में सर्वाधिक बाल मजदूरी वाला राज्य उत्तर प्रदेश (19,27,997) है जबकि सबसे कम बाल मजदूरी वाला राज्य लक्षद्वीप है जहाँ पर बाल मजदूरों की संख्या मात्र 27 है। सर्वाधिक बाल मजदूरी वाले राज्यों में उत्तर प्रदेश के बाद क्रमशः आंध्र प्रदेश, राजस्थान, बिहार व मध्य प्रदेश राज्य आते हैं।

### बाल श्रम के कारण

**गरीबी व निरक्षरता**—श्रम व रोजगार मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार बाल श्रम की समस्या के लिए गरीबी व निरक्षरता मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं। तालिका 1 से स्पष्ट है कि भारत में सर्वाधिक बाल श्रमिकों वाला राज्य उत्तर प्रदेश है जहाँ बाल श्रमिकों की संख्या 2001 की जनगणना के अनुसार 19,27,997 है, जिसकी साक्षरता दर 56.27% है व गरीबी की दर 31.15% है।

तालिका 1

राज्य	एन.एस.एस.ओ. (1999-2000) के अनुसार गरीबी की दर का प्रतिशत	2001 की जनगणना के अनुसार साक्षरता दर का प्रतिशत	2001 की जनगणना के अनुसार बाल श्रमिकों की संख्या
उत्तर प्रदेश	31.15	56.27	19,27,997
आंध्र प्रदेश	15.7	60.47	13,63,339
राजस्थान	15.28	60.41	12,62,570
बिहार	42.60	47.00	11,17,500
मध्य प्रदेश	37.43	63.74	10,65,259
लक्षद्वीप	15.60	86.66	27

जबकि सबसे कम बाल श्रमिकों वाला राज्य लक्षद्वीप है, जहाँ बाल श्रमिकों की संख्या मात्र 27 है तथा जिसकी साक्षरता दर 86.66% व गरीबी की दर 15.60% है। अतः कहना होगा कि बाल श्रम और निरक्षरता व गरीबी में चोली-दामन का साथ होता है।

- **शिक्षा का रोजगारपरक ना होना**—शिक्षा का रोजगारपरक ना होना बाल श्रम का दूसरा बड़ा कारण है। जहाँ एक ओर शिक्षा का शुल्क दे पाना गरीब परिजनों के लिए उनके बूते से बाहर होता है, वहीं दूसरी ओर ये परिजन यह भी सोचने लगते हैं कि जब पढ़न-लिखने से रोजगार की कोई गारंटी नहीं है तो उसमें समय और पैसा बर्बाद करने के स्थान पर उनका बच्चा कोई काम-धंधा या हुनर सीख ले तो ज्यादा अच्छा रहेगा। ऐसा होने से कम-से-कम दो पैसे आने की गारंटी तो हो जाएगी। इसीलिए गरीब परिजन अपने नाबालिग बच्चों को या तो हुनर सीखने के लिए गैराज या दर्जी की दुकान में काम पर लगा देते हैं या फिर प्लेटें माँजने, होटलों, ढाबों या घरों में भेज देते हैं। कहा जा सकता है कि **पेट (गरीबी), स्लेट (शिक्षा) और प्लेट (मजदूरी)** में जंग चलती रहती है और इस जंग में बाल श्रम ही एकमात्र विकल्प के रूप में उभरता है।
- **परंपरागत व्यवसाय**—कुछ परिवारों की परंपरा भी होती है कि बच्चों को उनके परंपरागत शिल्प सिखाए जाएं। जैसे—जरी उद्योग, गलीचा उद्योग अथवा बीड़ी बनाने का काम आदि। परंपरा का निर्वाह करने के

उद्देश्य से बिना कुछ सोचे इनमें घरों के छोटे-छोटे बच्चों को काम पर लगा दिया जाता है, जो प्रत्येक दृष्टि से इन बच्चों के लिए हानिकारक होता है।

- **सस्ती दरों पर उपलब्धता**—उत्पादकों तथा नियोजकों को वयस्क मजदूरों की तुलना में बाल श्रमिक अधिक सस्ती दरों पर उपलब्ध हो जाते हैं। अतः जब कम मजदूरी पर बाल श्रमिकों से मनमाना काम लिया जा सकता है तो वयस्क मजदूरों को ज्यादा मजदूरी पर काम पर रखने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। साथ ही बाल श्रमिकों द्वारा आंदोलन तथा हड़ताल की संभावना भी नगण्य रहती है। अतः गरीब परिवार के वयस्क लोगों को काम नहीं मिलता तो मजदूरी में गरीब परिजनों को अपने बच्चों को जोखिमपूर्ण कार्यों में नियोजित करना पड़ता है ताकि उनके परिवार का भरण-पोषण हो सके।
- **बड़ा परिवार**—गरीब तबकों में निरक्षरता व परिवार नियोजन के प्रति अरुचि के कारण परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, जिसके कारण अपने बच्चों को भी काम पर लगाना इन गरीब परिजनों की विवशता बन जाती है ताकि वे परिवार के लिए दो जून की रोटी का प्रबंध कर सकें। कुछ मामलों में पाया गया है कि गरीब परिवार की आय का 30 से 40% हिस्सा, इन बाल श्रमिकों पर ही निर्भर करता है।
- **पारिवारिक सामंजस्य का अभाव**—गरीबी के कारण गरीब परिवारों में पारिवारिक सामंजस्य



का अभाव रहता है। अतः ऐसे परिवारों के बच्चे इस माहौल से दूर रहने व अधिक सुखद भविष्य की तलाश में कभी-कभी घर छोड़कर भाग जाते हैं और बाल श्रम में लग जाते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार दिल्ली के रेलवे स्टेशन पर प्रतिदिन 15-20 बच्चे, ऐसे ही आते हैं।

### बाल श्रम को रोकने के लिए किये गए प्रयास

- **अनुच्छेद 23 — मानव के दुर्व्यापार और बलात् श्रम का प्रतिशोध**— इसके द्वारा किसी व्यक्ति की खरीद-बिक्री, बेगारी तथा इसी प्रकार का अन्य जबरदस्ती लिया हुआ श्रम निषिद्ध ठहराया गया है, जिसका उल्लंघन विधि के अनुसार दंडनीय अपराध है।
- **अनुच्छेद 24 — बालकों के नियोजन का प्रतिशोध**— 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को कारखानों, खानों या अन्य किसी जोखिम भरे काम पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।
- **अनुच्छेद 39(ई)**— इसके अनुसार राज्य ऐसी व्यवस्था करेगा जिससे पुरुष व स्त्री मजदूरों के स्वास्थ्य एवं शक्ति तथा बच्चों की नाजुक उम्र का दुरुपयोग न हो।
- **अनुच्छेद 39(एफ)**— इसके अनुसार राज्य ऐसी सुविधाओं व अवसरों की व्यवस्था करेगा, जिससे बच्चे स्वतंत्रता एवं सम्मान के साथ तथा स्वस्थ तरीके से विकसित हों तथा उनका बचपन एवं जवानी शोषण व नैतिक तथा भौतिक परित्याग से सुरक्षित हो।
- **बालकों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा विधेयक— 6 से 14 वर्ष तक के बालकों के लिए शिक्षा को मौलिक अधिकार के रूप में प्रतिस्थापित करने के लिए पारित 86वें संविधान संशोधन विधेयक 2002 के पश्चात् पिछले दिनों अगस्त 2009 में संसद द्वारा बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा विधेयक पारित किया गया। इस बिल में 6 से 14 वर्ष तक के बालकों को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए तथा प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए अनेक प्रावधान किये गए हैं। इस विधेयक को भारत सरकार द्वारा 1 अप्रैल 2010 से लागू करने की घोषणा की गयी है।**
- **बाल श्रम प्रतिबंध एवं विनियम अधिनियम 1986**— इसके द्वारा 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कई खतरनाक व्यवसायों तथा प्रक्रियाओं में काम करने पर प्रतिबंध लगाया गया है। पिछले पाँच वर्षों में इस अधिनियम की अनुसूची में क्रमबद्ध खतरनाक व्यवसायों की संख्या 7 से 13 तथा प्रक्रियाओं की संख्या 18 से 57 हो गयी है।
- **राष्ट्रीय बाल श्रम नीति 1987**— बाल श्रम पर एक राष्ट्रीय बाल श्रम नीति अगस्त 1987 में घोषित की गयी। इस नीति के तहत कार्य योजना में निम्न बिन्दु शामिल हैं—कानूनी कार्यवाही करना, बच्चों के परिवारों के लाभ के लिए सामान्य विकास कार्यक्रम पर जोर देना,

बाल श्रम की अधिकता वाले क्षेत्रों में परियोजना के आधार पर कार्य करना।

- **राष्ट्रीय बाल श्रम परियोजना**—राष्ट्रीय बाल श्रम नीति के अनुपालन में 1988 में आरम्भ की गयी राष्ट्रीय बाल श्रम परियोजना (एन.सी.एल.पी.) एक केंद्रीय योजना है। इस योजना के तहत जिलाधीश/कलेक्टर की अध्यक्षता में जिला स्तर पर परियोजना समितियाँ बनायी जाती हैं, ताकि परियोजना का उचित कार्यान्वयन किया जा सके। परियोजना समिति की स्थापना इस योजना के संचालन की एक पूर्व शर्त है। जिला स्तर पर स्थापित इन परियोजना समितियों को धन सीधे दिया जाता है। इस परियोजना के मुख्य प्रावधान हैं—विगत/वर्तमान बाल श्रमिकों के लिए विशेष विद्यालय की स्थापना करना, विद्यालय में औपचारिक या अनौपचारिक शिक्षा के साथ-साथ कौशल विकास के लिए रोजगारपरक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, प्रत्येक बच्चे के लिए, पाँच रुपये प्रतिदिन के हिसाब से मध्यावधि भोजन की व्यवस्था करना, बच्चों की नियमित स्वास्थ्य जाँच करवाना।

श्रम व रोजगार मंत्रालय, भारत सरकार की सहायता से चल रही इस योजना के अंतर्गत प्रारंभ में मात्र 12 जिले कवर किए गए थे। जिनकी संख्या नवीं पंचवर्षीय योजना में 100 व दसवीं पंचवर्षीय योजना में 250 कर दी गयी है। एन.सी.एल.पी. दसवीं पंचवर्षीय योजना में संशोधित की गयी है। संशोधित योजना भारत सरकार के विभागों के अन्य कार्यक्रमों के साथ अभिमुख

होने पर जोर देती है। इसके अतिरिक्त संशोधित योजना ने स्वास्थ्य जाँच, पोषण, आवश्यकताओं तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण को भी सुदृढ़ किया है। इस परियोजना के द्वारा अब तक अनुमानतः 3.38 लाख बच्चों को औपचारिक शिक्षा प्रणाली की मुख्यधारा में लाया जा चुका है।

- **इंडस परियोजना**—जोखिम भरे उद्योगों में लगे हुए बाल श्रमिकों का पूरी तरह से उन्मूलन करने के लिए सन् 2004 में भारत सरकार एवं अमरीकी श्रम विभाग के संयुक्त सहयोग से 40 मिलियन अमरीकी डालर की लागत से 'इंडस' नाम की संयुक्त परियोजना देश के 21 जिलों में आरम्भ की गयी है। इस परियोजना का लक्ष्य महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र सहित पाँच राज्यों के 21 जिलों में दस खतरनाक उद्योगों से बाल श्रम का उन्मूलन करने का है।
- **अनुदान योजना**—अनुदान योजना के तहत श्रम मंत्रालय 88 स्वैच्छिक और सरकारी संगठनों को सहायता प्रदान करता है ताकि वे उन जिलों में बाल श्रमिकों को व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा शिक्षा प्रदान करने वाली परियोजनाओं को लागू कर सकें जो एन.सी.एल.पी. तथा इंडस परियोजना के अंतर्गत नहीं आते हैं।
- **आई.एल.ओ.** के सहयोग से दो योजनाएँ— **बाल श्रम समाप्ति हेतु अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम तथा बाल श्रम कार्य व सहयोग योजना** चलायी गयी है।

श्रम मंत्रालय और यूनीसेफ के सहयोग से राष्ट्रीय श्रमिक संस्थान में सितम्बर, 1990 में **बाल श्रमिक प्रकोष्ठ** की स्थापना की गयी है। बच्चों की पर्याप्त सुरक्षा और आवश्यक देखभाल को सुनिश्चित करने के लिए बाल न्याय (बच्चों की सुरक्षा व देखभाल) अधिनियम 2000 बनाया गया है।

- **राष्ट्रीय चार्टर—2003** (बच्चों के प्रति) भी संविधान के अंतर्गत पहले से प्राप्त अधिकारों का उपयोग करने की दिशा में उल्लेखनीय प्रयास है।
- **बाल अधिकारों से संबंधित समझौता**— भारत ने बच्चों के प्रति अपनी वचनबद्धता के तहत 11 दिसम्बर 1992 को बच्चों के अधिकारों से संबंधित संयुक्त राष्ट्र संधि का अनुमोदन कर दिया। इसका उद्देश्य सभी बच्चों को स्वस्थ और अनुकूल वातावरण में जीने व पलने का अधिकार प्रदान करना है। भारत ने बाल अधिकार संधि की दो वैकल्पिक विज्ञप्तियों पर सितम्बर 2004 में हस्ताक्षर किये हैं। इसमें प्रथम सशस्त्र संघर्ष में बच्चों की संलिप्तता तथा द्वितीय बच्चों की खरीद-फरोख्त, वैश्यावृत्ति और अश्लील साहित्य पर है।
- बाल श्रम को रोकने हेतु राष्ट्रीय बाल आयोग का गठन सरकार द्वारा किया गया सराहनीय प्रयास है।
- **संकटग्रस्त, बेसहारा, लावारिस बच्चों की सहायता हेतु चाइल्ड लाइन की स्थापना**— एक विशेष निःशुल्क टेलीफोन नम्बर 1098 पर आधारित चौबीस घंटे कार्यरत चाइल्ड

लाइन वर्तमान में देश के 73 शहरों में कार्यरत है। इसका उद्देश्य 0-18 वर्ष तक के संकटग्रस्त, बेसहारा, लावारिस बच्चों की तत्काल सहायता के अतिरिक्त बच्चों की समाज में पुर्नस्थापना व पुनर्वास के प्रयास करना भी है। चाइल्ड लाइन महिला एवं बाल विकास मंत्रालय, भारत सरकार, दूरसंचार विभाग, रेल मंत्रालय, स्वास्थ्य विभाग, सामाजिक सुरक्षा कल्याण व स्वयंसेवी संस्थाओं के सहभागी प्रयास से कार्यरत है।

- **चिल्ड्रन इन नीड ऑफ केयर एंड प्रोटेक्शन**— महिला एवं बाल विकास मंत्रालय, भारत सरकार की यह योजना विशेष रूप से उन बच्चों के लिए है, जो घरों, ढाबों व मोटर गैराजों में कार्यरत हैं। योजना के तहत मुख्य धारा से जोड़ने वाली शिक्षा, रोजगारपरक प्रशिक्षण, चिकित्सकीय सहायता, भोजन आदि का प्रावधान है।

श्रम मंत्रालय ने हाल ही में एक अधिसूचना बाल श्रम (प्रतिबंध एवं विनियम) अधिनियम, 1986 के तहत जारी की है, जो 10 अक्टूबर 2006 से लागू की गयी है। इस अधिसूचना द्वारा बच्चों को घरेलू नौकर अथवा ढाबों, रेस्टोरेंटों, होटलों, चाय की दुकानों, रिसोर्ट, स्पा केंद्र अथवा अन्य मनोरंजन केंद्रों में काम पर रखना प्रतिबंधित है।

**बाल श्रम को रोकने एवं बाल श्रमिकों को शिक्षा की मुख्य धारा से जोड़ने हेतु सुझाव**

- हमारे देश में प्रदान की जाने वाली शिक्षा रोजगारपरक नहीं है। अतः शिक्षा प्राप्त करने के

बाद भी रोजगार की गारंटी ना होने के कारण गरीब परिजन अपने बच्चों को स्कूल भेजने के स्थान पर, किसी हुनर या काम-धंधे को सिखाने के उद्देश्य से उन्हें या तो किसी कारखाने में भेज देते हैं या दर्जी की दुकान पर काम में लगा देते हैं। आज बाल श्रम उन्मूलन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है, कि बालकों को प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर पर प्रदान की जाने वाली शिक्षा के साथ-साथ किसी व्यवसाय की शिक्षा भी प्रदान की जाए ऐसा होने पर जहाँ एक ओर बच्चे उसे सीखकर भविष्य में अपनी जीविका का साधन बना सकेंगे, वहीं दूसरी ओर उनके अभिभावकों की शंका का भी समाधान हो जाएगा और वे आश्वस्त हो जाएँगे कि शिक्षा प्राप्त करने पर, रोजगार की गारंटी है।

- बाल श्रमिक परियोजना के अंतर्गत तीन वर्षों तक चलने वाले बाल श्रमिक स्कूलों में सरकारी स्कूलों के प्राइमरी स्तर की किताबें ही चलती हैं। इन स्कूलों में तीन वर्ष के भीतर बच्चों को पाँचवीं तक की पढ़ाई करवाकर, उन्हें सरकारी स्कूलों में नामांकित किया जाता है। जहाँ एक ओर सरकारी स्कूलों में प्रतिदिन छह घंटे की पढ़ाई के बाद भी बच्चा सही ढंग से नहीं सीख पाता है वहीं इन श्रमिक स्कूलों में बच्चा मात्र तीन वर्षों में पाँचवी तक की पढ़ाई कैसे पूरी कर सकेगा। अतः श्रमिक स्कूलों की अवधि तीन वर्ष से बढ़ाकर कम से कम पाँच वर्ष कर दी जानी चाहिए।
- बाल श्रमिकों के लिए चल रहे बाल श्रमिक स्कूलों की वास्तविक स्थिति यह है, कि

जिन क्षेत्रों को इन स्कूलों के लिए नामांकित किया गया था, उन क्षेत्रों में बाल श्रमिक स्कूल नाम के बोर्ड तो लग गए हैं, परन्तु इन स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने शायद ही कोई बाल श्रमिक आता हो। जब कभी इन स्कूलों के निरीक्षण के लिए राज्य स्तर पर कोई टीम आती है तो स्कूल के संचालक इधर-उधर से बच्चों को खाने का लालच देकर स्कूलों में बैठा देते हैं। अतः इन बाल श्रमिक स्कूलों पर निगरानी रखने हेतु, क्षेत्र विशेष के लिए पृथक क्षेत्रीय समितियों का गठन किया जाना चाहिए। शिक्षित, जागरूक व ईमानदार युवक व युवतियों को इन क्षेत्रीय समितियों का अध्यक्ष नियुक्त किया जाना चाहिए। जिनके द्वारा प्रत्येक माह सरकार को इन स्कूलों की वास्तविक रिपोर्ट प्रेषित की जानी चाहिए।

- संविधान के 86वें संशोधन 2002 द्वारा 6-14 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकारों में सम्मिलित किया गया था। इसी अधिकार को अधिक प्रभावी बनाने के लिए बनाया गया अधिनियम 'द राइट ऑफ चिल्ड्रेन टू फ्री एण्ड कंपलसरी एजुकेशन एक्ट' अगस्त 2009 को पारित किया गया है। भारत सरकार द्वारा इसे 1 अप्रैल 2010 से लागू करने की घोषणा की गयी है। भारत सरकार द्वारा इसी तरह के चाहे कितने भी अधिनियम क्यों ना बना लिए जाएँ, लेकिन बाल श्रम की समस्या का उन्मूलन करके बाल श्रमिकों को शिक्षा की मुख्य धारा से तबतक नहीं जोड़ा जा

- सकता है, जबतक कि बाल श्रमिकों की मूलभूत समस्या गरीबी, जो कि धन संबंधी है, का समाधान ना किया जाए। अतः निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने के साथ-साथ, केंद्रीय स्तर व राज्य स्तर पर बाल श्रमिकों के लिए कुछ छात्रवृत्तियों व अनुदान राशि प्रदान करने वाली योजनाओं को सहायतार्थ शुरु किया जाना चाहिए, ताकि धन के अभाव में बाल श्रमिक शिक्षा से वंचित ना रह सकें।
- चाहे काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी का मैस हो या जे.एन.यू., दिल्ली की कैंटीन या फिर के.जी.एम.सी., लखनऊ का मैस या कैंटीन हर जगह एक ही समानता देखने को मिलती है और वह समानता है वहाँ पर काम कर रहे बाल श्रमिकों की। इतने उच्च शिक्षण संस्थानों में जब ये हालात हैं तो ढाबों, होटलों व रेस्टोरेंटों में काम करने वाले बाल श्रमिकों की स्थिति का अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। इतने उच्च शिक्षित हो जाने के बावजूद इन संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थी व पढ़ाने वाले शिक्षकगण इस सबसे अनभिज्ञ बने रहते हैं व इसे नजरअंदाज करते हैं। अतः शिक्षकों तथा विद्यार्थियों द्वारा इसका खुलकर विरोध किया जाना चाहिए तथा उनके द्वारा इन बाल श्रमिकों को काम से हटवाकर, इन्हें स्कूल भेजने के लिए अपने स्तर पर समुचित प्रयास किये जाने चाहिए।
  - प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक के शैक्षिक पाठ्यक्रम में ऐसे अध्यायों को सम्मिलित किया जाना चाहिए, जो छात्रों को यह समझा सके कि बाल श्रम एक दण्डनीय अपराध है। ताकि बड़े होकर ये छात्र भविष्य में देश के सजग नागरिक बन सकें व इस जघन्य अपराध को रोकने में सहायता कर सकें।
  - शैक्षिक रेडियो के माध्यम से समय-समय पर विभिन्न बाल श्रम विरोधी कार्यक्रमों का प्रसारण किया जाना चाहिए।
  - विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान करने हेतु जिस तरह शैक्षिक दूरदर्शन पर ज्ञान दर्शन का प्रसारण किया जाता है, ठीक उसी तरह शैक्षिक दूरदर्शन पर बाल श्रम को रोकने में सहायक व बाल श्रमिकों को शिक्षा प्रदान करने में सहायक कार्यक्रमों का प्रसारण किया जाना चाहिए।
  - शहर के पढ़े लिखे व जागरूक युवक व युवतियों को चाहिए कि वे बाल श्रमिकों के गरीब परिजनों व बाल श्रमिकों को शिक्षा की ओर प्रेरित करें। अतः समितियों का गठन करके ऐसे शिक्षित व जागरूक युवक व युवतियों को बाल श्रमिकों की शिक्षा के उन्नयन की जिम्मेदारी सौंप दी जानी चाहिए।
  - बाल श्रमिकों की शिक्षा के प्रसार के लिए गाँवों में भी समितियों का गठन करके उन्हें बाल श्रमिकों की शिक्षा सुनिश्चित करने का दायित्व सौंप देना चाहिए।
  - बाल श्रमिकों के लिए भी अलग से आवासीय विद्यालयों व बाल श्रमिक आश्रमों की स्थापना अधिक से अधिक संख्या में की जानी चाहिए।
  - बाल श्रमिकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए समय-समय पर आवासीय शिविरों का आयोजन किया जाना चाहिए। इन शिविरों में

बालकों के सर्वांगीण विकास पर जोर दिया जाना चाहिए।

- शहर के पढ़े-लिखे व जागरूक युवक व युवतियों को चाहिए कि वे विभिन्न कार्यक्रमों जैसे—नुक्कड़ नाटक, कठपुतली नाटक व लघु फिल्मों की सहायता से बाल श्रमिकों के गरीब परिजनों को यह समझाएँ कि वे अपने बालकों को बाल श्रमिक के स्थान पर स्कूल श्रमिक बनाएँ।
- सरकार द्वारा प्रत्येक गरीब परिवार में कम से कम एक सदस्य को नियमित तथा सत् रोजगार प्रदान किया जाना चाहिए ताकि मजबूरीवश उन्हें अपने बच्चों को परिवार के भरण-पोषण के लिए विभिन्न जोखिमपूर्ण उद्योगों में काम पर न लगाना पड़े।
- बालकों को स्कूल न भेजने को भी एक दंडनीय अपराध घोषित किया जाना चाहिए।

प्रत्येक बालक विद्यालय जाए, इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए बालकों को स्कूल भेजने की जिम्मेदारी उनके अभिभावकों व उस क्षेत्र के शिक्षा विभाग के अधिकारियों की होनी चाहिए। बच्चों को स्कूल न भेजने की दशा में उनके अभिभावकों व उस क्षेत्र के शिक्षा विभाग के अधिकारियों को दण्डित किया जाना चाहिए।

- बाल श्रमिकों के काम करने में जो भी सम्मिलित है, अभिभावक या नौकरीदाता उन पर सख्त कानूनी कार्यवाही की जानी चाहिए।
- जिन अभिभावकों ने अपने बच्चों को कल-कारखानों या होटल व रेस्टोरेंटों के काम से हटाकर, स्कूलों में भेजना प्रारम्भ किया है, उन अभिभावकों को सरकार के द्वारा पुरस्कृत किया जाना चाहिए, ताकि अन्य लोग भी प्रेरित हो सकें।

## संदर्भ

- ओझा, एन. एन. (संपादक) 2005. *भारत की सामाजिक समस्याएँ*, क्रॉनिकल पब्लिकेसंस प्रा.लि., नई दिल्ली  
कुमार, संदीप 2007. 'बाल श्रम : एक कलंक', *कुरुक्षेत्र*, 54(1): 14-15
- प्रकाश, एस. ओम 1983. *मशाल : केस हिस्ट्री ऑफ ब्रांडेड लेबर गर्ल्स*, भीम पब्लिकेसंस, जालंधर
- पाण्डेय, राजेन्द्र 1994. *सोशल प्रॉब्लम्स ऑफ कॉन्टेम्पोरेरी इण्डिया*, आशीष पब्लिकेसंस, नई दिल्ली
- भारत सरकार 2009. *वार्षिक संदर्भ-ग्रंथ—भारत*, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली
- सिंह, डॉ. उदयभान (संपादक) 2009-10. *भारत 2009 समसामयिकी* (संक्षिप्त विवरण), श्री बिहारी जी पब्लिकेशन, कानपुर
- शर्मा, उषा 2006. *चाइल्ड केयर इन इंडिया*, मित्तल पब्लिकेसंस, नई दिल्ली
- शर्मा, ए. के. 2007. *चाइल्ड लेबर*, अनमोल पब्लिकेसंस प्रा.लि., नई दिल्ली
- श्रीवास्तव, अर्चना 2008. 'मानवता के नाम पर कलंक', *योजना*, 52 (5): 21-23

# भारतीय संस्कृति में पर्यावरण

सुषमा जोशी\*

संस्कृति प्रबुद्ध मानव मन की वह संकल्पना है जो समाज के लिए समाजीकरण की आधारशिला तैयार करती है तथा आने वाली पीढ़ी को उसके अनुगमन हेतु प्रेरित करती है। हमारी भारतीय संस्कृति का प्रारम्भिक स्वरूप तपोवनी था, इसलिए इसमें प्रत्येक प्राणी के प्रति संवेदना थी, मानवीय गुणों का समन्वय था। वैदिक ऋचाओं में स्तुति स्वरूप किये गए गुणगान इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि हमारे पूर्वजों का प्रमुख लक्ष्य प्रकृति का दोहन करना नहीं वरन् उसका संरक्षण, संवर्धन करना था। किन्तु दुःखद स्थिति यह है कि आज इस वैश्वीकरण के दौर में हम प्राचीन आस्थाओं, परम्पराओं को विस्मृत कर भोगवादी सभ्यता को अपना रहे हैं तथा ब्राण्ड को कलुषित कर रहे हैं। यह सत्य है कि आज नगर संस्कृति को वन्य संस्कृति के रूप में परिणित नहीं किया जा सकता किन्तु उसमें निहित प्रमुख तत्वों को तो लिया ही जा सकता है।

हमारे भारतीय समाज को प्रारम्भ से ही एक समृद्ध संस्कृति विरासत के रूप में प्राप्त है जो सदैव से ही जनजन को सुसंस्कृत बनाने हेतु उसके व्यवहार प्रतिमानों को निर्देशित करती आयी है। संस्कृति प्रबुद्ध मानव मन की वह संकल्पना है जो समाज के लिए सामाजीकरण की आधारशिला तैयार करती है तथा आने वाली पीढ़ी को उसका अनुगमन करने के लिए प्रेरित करती है। सामान्य अर्थ में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति उन भौतिक एवं बौद्धिक साधनों का

समिश्रित योग है, जिससे समाज में रहते हुए व्यक्ति स्वयं को समायोजित करता है। हमारी संस्कृति का प्रारम्भिक स्वरूप तपोवनी था। तपोवन के मध्य पालित-पोषित हुई इस संस्कृति में अध्यात्म पक्ष प्रबल था। इसीलिए सम्भवंतः रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसे 'अरण्य संस्कृति' के नाम से संबोधित किया। अरण्य अर्थात् वन से जुड़ी होने के कारण इस संस्कृति में प्रत्येक प्राणी के प्रति प्रेम, सहानुभूति, दया, सदभाव, सहज ही जुड़ गए। मानवीय गुणों के साथ-साथ हमारी संस्कृति में

\*वरिष्ठ प्रवक्ता, बसंत महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

आध्यात्मिक पर्यावरण के प्रति भी विशेष ध्यान दिया गया है। भारतीय संस्कृति में निहित प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति आदर निष्ठा का भाव सर्वविदित है। प्राचीन वैदिक साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि मनुष्य को प्रकृति का पुत्र कहा जाता था। अथर्ववेद के भूमि सूक्त में स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं—‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या’ इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भारतीय संस्कृति सदैव से ही साहचर्य-सामीप्य में परिवर्धित एवं पोषित हुई थी। प्रकृति और संस्कृति के मध्य सहज, स्वभाविक तादात्म्य संबंध था। प्रकृति द्वारा प्रदत्त उपादानों के प्रति कृतज्ञता हमारी संस्कृति का मुख्य आदर्श था, इसीलिए उन्हें पूजनीय भी समझा जाता था। मनुष्य प्रकृति के इतना निकट रहा कि उसे सुरक्षा भी चतुर्दिक पर्यावरण से ही प्राप्त हुई, इसीलिए उसने प्रकृति के आधारों में देवत्व गुण अरोपित करते हुए उन्हें जनमानस की श्रद्धा का केंद्रबिन्दु बनाया। प्रकृति के समस्त उपादान जैसे—जीव-जन्तु, पशु-पक्षियों, जलाशयों, नदियों के संरक्षण, संवर्धन पर ध्यान दिया। ‘अग्नि’ जिसे सूर्य का साकार रूप माना जाता है, उसे ऊर्जा के अपरिमित स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया। ऋग्वेद की ऋचाओं में स्पष्ट वर्णित है कि सूर्य की रश्मियों में वायु मण्डल में फैले हुए असंख्य कीटाणुओं को नष्ट करने की क्षमता है। नदियों को भी जीवनदायनी शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए ऋग्वेद की स्तुति में वर्णित है कि—

“हमारी दैवी नदियाँ हमारी रक्षा के लिए दयामय बनी रहीं। वे हमें पीने के लिए जल प्रदान करती रहीं, और हम पर आनन्द और

खुशियाँ बरसाती रहीं। हमारी बहुमूल्य निधियाँ और मानव की विधाता हे नदियों! हम तुम्हारे जल के, आरोग्यकर जल के आकांक्षी हैं।”

इसी प्रकार ‘वायु’ तत्व की स्तुति में भी हमारे ऋषि वृन्द कहते हैं—

“हे वायु! अपनी औषधि ले आओ और सब रोगों को दूर करो, क्योंकि तुम सभी औषधियों से युक्त हो।”

जल को जीवन का आधार मानते हुए ऋचाओं में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—

“हे जल तुम अन्न की प्राप्ति के लिए उपयोगी हो। तुम पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ, अन्न आदि निर्भर हैं। तुम औषधि रूप हो।”

वैदिक ऋचाओं में स्तुति स्वरूप किये गए गुणगान इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि हमारी संस्कृति में प्रारम्भ से ही पर्यावरण के प्रति आदर का भाव सन्निहित था। मनुष्य को प्रकृति ने प्रारम्भ से ही जीवनदायिनी शक्ति प्रदान की। प्रकृति के स्रोतों का प्रयोग करते हुए तथा उनसे पोषक तत्वों को ग्रहण कर मनुष्य ने सभ्यता के पायदानों को लाँघते हुए आज सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत कहलाने का दर्जा प्राप्त किया है। ये प्रकृति का समन्वित रूप ही पर्यावरण का अंश है। ‘पर्यावरण’ परि तथा आवरण से मिलकर बना है। ‘परि’ का अर्थ है चारों ओर तथा आवरण का अभिप्राय है ‘घेरा’ अथवा ढाँकना, आच्छादित करना। पर्यावरण का तात्पर्य हमारे चारों ओर पाये जाने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक व प्राकृतिक वातावरण से है। सामाजिक वातावरण से अभिप्राय मानव के आपसी संबंधों से है। सांस्कृतिक वातावरण के अंतर्गत नैतिक मूल्य,



परम्पराएँ, आदर्श आदि रखे जाते हैं तथा प्राकृतिक वातावरण में जल, वायु, पृथ्वी, नदी, वृक्षादि वनस्पतियाँ आती हैं। पर्यावरण संबंधी इन सभी तत्वों में प्राकृतिक रूप से स्वतः ही संतुलन देखने को मिलता है तथा ये सभी मानव जीवन के अभिन्न अंग हैं। सदैव से ही इनका समन्वित रूप मनुष्य को सुरक्षाकवच प्रदान करता आया है। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं आधुनिक शिक्षा विचारक श्री जे. कृष्णमूर्ति जी का मानना था—

*“पर्यावरण में केवल आपका शहर, कस्बा, गाँव या आस-पास का माहौल ही शामिल नहीं है, प्रकृति भी उसमें है। यदि प्रकृति से आपका संबंध नहीं तो मनुष्य से भी आपका कोई संबंध नहीं।”*

वास्तव में मानव व पर्यावरण का सदैव से ही अन्योयाश्रित संबंध रहा है और रहेगा भी। मनुष्य में बुद्धिजीवी प्राणी होने के नाते अपने चतुर्दिक पर्यावरण को प्रभावित तथा कुछ अर्थों में नियंत्रित कर पाने की क्षमता है। शायद इसीलिए यह पँच भूतों से (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) से निर्मित श्रृष्टि पर्यावरण के प्रति सदैव सचेष्ट दिखाई दी। हमारी संस्कृति में संस्कारों के वाहक धर्म ने मानव के प्रत्येक मानसिक, वाचिक, कायिक कार्यों को संयमित ढंग से करने की प्रेरणा दी। भारतीय संस्कृति के अंतर्गत प्रारम्भ से ही वृक्षारोपण, वृक्षसिंचन तथा उनके संरक्षण को पवित्र कृत्य के रूप में स्वीकार किया गया। कुछ प्रमुख वृक्ष जैसे पीपल, बरगद, नीम, तुलसी, बेल को देवत्व का स्थान प्रदान करते हुए उनका पूजन गृहस्थ के लिए आवश्यक बताया गया इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वृक्ष जैसे जामुन, आँवला, कदम्ब को अत्यन्त उपयोगी मानते हुए

इनका रोपण धार्मिक कृत्य माना गया। भारतीय संस्कृति की यह अनूठी विशेषता रही कि उसमें पर्यावरण के प्रत्येक मूर्त-अमूर्त तत्वों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य उन्हें देवताओं के साथ संबंधित कर उनका संरक्षण, संवर्धन, गृहस्थ के लिए आवश्यक बताया। हमारी वैदिक संस्कृति के स्रोत चारों वेदों में यत्र-तत्र प्रकृति को देवत्व रूप प्रदान करते हुए ऋचाओं के रूप में उनका गुणगान वर्णित मिलता है। ऋषियों-मुनियों, देवताओं की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला ‘कल्पवृक्ष’ भी प्रकृति की ही एक उपज है। हमारी भारतीय संस्कृति के परिचायक प्रमुख दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रन्थ पुराण, रामायण, महाभारत, उपनिषद यहाँ तक कि बाइबिल, कुरान शरीफ तथा गुरु ग्रंथ साहिब में भी पर्यावरण को प्रमुखता प्रदान करते हुए ज्ञान प्राप्ति में सहायक बताया गया है। प्राकृतिक वातावरण में वह क्षमता होती है जो मानव चित्त को एकाग्र करने में तथा शान्ति प्रदान करने में पूर्ण समर्थ देखी जाती है, तभी तो भगवान बुद्ध ने बोधिसत्व की प्राप्ति पीपल वृक्ष के तले ही प्राप्त की। श्रीमद्भगवत गीता में तो श्री कृष्ण ने स्वयं को ‘अस्वत्थ वृक्ष’ के रूप में निरूपित कर उसका मान बढ़ाया है। भारतीय साहित्य भी पर्यावरण के प्रेम से अछूता नहीं कहा जा सकता। हमारे संस्कृत व हिंदी साहित्य की तो प्रकृति आत्मा स्वरूप है। प्राचीन काल की शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ ही प्रकृति के सुरम्य वातावरण से माना जाता था। गुरु के समस्त प्रयास यही रहते थे कि वह अपने शिष्य में प्रकृति के प्रत्येक सूक्ष्म कणों का अभ्यास करा सके। संस्कृत साहित्य तो प्रकृति से इतना जुड़ा हुआ दिखता है कि प्रकृति के उपादानों के माध्यम से ही साहित्यकारों ने जन-जन को प्रकृति

से प्रेम करने का संदेश दिया है। जातक कथाओं, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि की कथाओं में ऐसे बहुत से उदाहरण देखे जा सकते हैं। महाकवि कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञान शाकुन्तलम् प्रकृति के सानिध्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। मुनि कण्व के आश्रम में पालित पुत्री शकुन्तला का प्रकृति के प्रति प्रेम इस तथ्य की पुष्टि करता है कि प्रकृति भी सानिध्य पाकर मनुष्य के साथ अपनी संवेदनाओं को किसी न किसी रूप में व्यक्त करती है। प्रकृति के साथ अटूट प्रेम तुलसीदास कृत रामचरित मानस में भी यत्र-तत्र देखा जा सकता है। यही नहीं आधुनिक युग में भी छायावादी कवियों ने तो अपनी रचनाओं में प्रकृति का मानवीकरण करते हुए रचनाओं को जीवंत रूप प्रदान करने का प्रयास किया है तथा अपने भावों की अभिव्यक्ति के समस्त उपादान प्रकृति से ही लिए हैं। पं. सुमित्रा नंदन पंत, महादेवी वर्मा, जयशंकर प्रसाद की अनेक रचनाओं में इसे देखा जा सकता है। इन छायावादी कवियों ने प्रकृति में ही सत्यं, शिवं, सुंदरम् के समवितं रूप के दर्शन को स्वीकार किया है। प्रकृति के साथ आत्मीय संबंधों की प्रगाढ़ता प्रसिद्ध शिक्षा विचारक श्री जे. कृष्णमूर्ति जी के विचारों से स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनका मानना था कि प्रकृति मनुष्य को संपूर्ण शिक्षा देने में समर्थ होती है, बस इसके लिए प्रकृति का सानिध्य आवश्यक है। ब्रॉकवुड पार्क (इंग्लैंड) में प्रकृति के साथ सानिध्य की चर्चा करते हुए एक स्थान पर उन्होंने कहा—

“क्या आपने देखा है कि जब आप किसी जंगल में पहली बार घुसते हैं, तो एक अजीब वातावरण होता है, ऐसा लगता है जैसे प्रकृति वृक्ष नहीं चाहते कि आप अंदर आएँ। आप

झिझकते हैं, और कहते हैं, ‘ठीक है’ फिर आप शाँत मन से अंदर चले जाते हैं। दूसरी बार आप जाते हैं तो प्रतिरोध कम होता है, और तीसरी बार यह नहीं रहता।”

भारतीय संस्कृति सर्वात्मवाद के सिद्धांत की पूर्ण समर्थक है। जिसके अनुसार परमतत्त्व यानि ब्रह्म की उपस्थिति छोटे-से-छोटे जीव से लेकर बड़े से बड़े तत्व में देखी जा सकती है। इस सिद्धांत को प्रमुखता प्रदान करते हुए हमारे मनीषियों ने प्राणी मात्र से स्नेह करने का उपदेश दिया है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। ‘कामधेनु’ के रूप में तथा गोवर्धन पूजा के रूप में ‘गौ’ का सम्मान। ‘धारित्री’ धारण करने के अर्थ में धरती अथवा भूमि की पूजा तथा देवी देवताओं के वाहन के रूप में समस्त प्राणियों की रक्षा इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। हमारी संस्कृति में पक्षियों के परित्रण के भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे— कबूतर की रक्षा के लिए राजा शिवि द्वारा अपनी देह का समर्पण कर देना, रंति देव द्वारा भूखे श्वान को अपना भोजन दे देना, भगवान बुद्ध का सिद्धार्थ के रूप में घायल हँस की सेवा करना इत्यादि। भारतीय संस्कृति में न केवल प्रकृति के साथ तादात्म्य की ही चर्चा मिलती है, वरन इस संस्कृति में प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता एवं जागरूकता भी देखी जा सकती है। प्रारम्भ से ही हमारे पूर्वजों का प्रमुख लक्ष्य प्रकृति का दोहन करना नहीं वरन् उसका संरक्षण, संवर्धन करना था। प्राचीन ऋषि, मुनि, यज्ञादि विधानों के द्वारा पर्यावरण को शुद्ध करने का प्रयास करते थे। उनके समस्त मंत्र प्रकृति को सुरक्षा प्रदान करने

से संबंधित ही होते थे। प्रकृति का क्षरण अमंगल का सूचक (पर्याय) एवं प्रकृति की हरितिमा को आनन्द का पर्याय समझा जाता था। संवेदनशीलता को प्रमुख मानव धर्म के रूप में मानते हुए प्रसिद्ध विचारक श्री जे. कृष्णमूर्ति का विचार था कि प्रकृति केवल निरीक्षण की वस्तु नहीं वरन महसूस करने में अविक्त आनन्द प्रदान करती है। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा—

“यदि आप समुद्र को, उसके पानी, उसकी लहरों और आते-जाते ज्वार-भाटाओं को गहराई से महसूस नहीं करते तो आप कैसे मानवीय संबंधों में सजग और संवेदनशील हो सकते हैं? यह समझना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि सौन्दर्य केवल भौतिक रूप में नहीं बल्कि सौन्दर्य का सार संवेदनशीलता के उस गुण में है जिसमें प्रकृति के अवलोकन की गुणवत्ता निहित है।”

भारतीय संस्कृति में निर्देशित समस्त संस्कार, आचार, विचार, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर्यावरण संरक्षण से जुड़े हैं। लोक गीतों में, लोक धुनों में भी प्रकृति के प्रत्येक तत्व को संगीतमय रूप देते हुए उसकी महत्ता को गुणगान किया जाता है। ‘वैदिक शान्ति पाठ’ इस तथ्य की पुष्टि करता है। इसमें स्पष्ट रूप से वर्णित है कि इस पर्यावरण का प्रत्येक तत्व शान्तिदायक हो। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के संबंध को स्पष्ट दर्शाता है। प्रकृति की प्रत्येक क्रिया अनुक्रिया का प्रभाव किसी न किसी रूप में आज भी हमारी संस्कृति में देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति और पर्यावरण के घनिष्ठ साहचर्य को

जानते, समझते हुए भी हम भौतिकतावादी दृष्टिकोण के प्रति इतने अधिक आकर्षित हो रहे हैं कि अपने चतुर्दिक पर्यावरण की अवहेलना कर आधुनिकता के मोहपाश में बंधे जा रहे हैं। प्रकृति प्रदत्त परम्पराओं और आस्थाओं को विस्मृत कर भोगवादी सभ्यता को आत्मसात कर रहे हैं। प्रकृति के प्रति इस विषैली सोच ने पर्यावरण के कण-कण को दूषित कर डाला है। इसे अपना दुर्भाग्य ही मानेंगे कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को कलुषित करने वाला स्वयं मनु पुत्र अर्थात् मानव ही है। श्री जे. कृष्णमूर्ति ने एक स्थल पर मनुष्य व ब्रह्माण्ड की चर्चा करते हुए कहा है—

“यह केवल मनुष्य है जो ब्रह्माण्ड में अव्यवस्था लाता है। वह निर्दयी व अत्यन्त हिंसक है। वह जहाँ भी रहता है खुद अपने में और आसपास के संसार में दुःख विपत्ति और भ्रान्ति पैदा कर लेता है। वह विध्वंस व बर्बादी लाता है, उसके पास करुणा नहीं है। उसके अपने भीतर व्यवस्था नहीं है, इसलिए वह जिस किसी चीज का स्पर्श करता है वह दूषित और अव्यवस्थित हो जाती है।”

जिस प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति हमारे ऋषि मुनि अत्यंत संवेदनशील थे, भावात्मक रूप से जुड़े थे, उसी के प्रति आज हमारी सोच बदल गयी है। आज हमारी संवेदनशीलता मात्र उपयोगिता तक सीमित रह गयी है। कृष्णमूर्ति जी इस संबंध में कहते हैं कि—

“चूँकि हम धरती को और उसकी वस्तुओं को प्रेम नहीं करते मात्र उनका उपभोग करते हैं, इसलिए हम झरने के सौन्दर्य के प्रति

असंवेदनशील हो गए हैं, हम जीवन के स्पर्श को खो चुके हैं, हम कभी पेड़ के तने से पीठ टिकाकर नहीं बैठते, और चूँकि हम प्रकृति से प्रेम नहीं करते इसलिए हम इंसानों और जन्तुओं से प्रेम करना नहीं जानते”।

वास्तव में आज वैश्वीकरण के युग में मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि वह पर्यावरण के सभी उत्पादों को उपयोगिता की दृष्टि से आँकता है। प्रकृति एवं प्रकृतियुक्त पर्यावरण में रहते हुए भी वह उनके संबंधों से अनभिज्ञ है। प्राकृतिक पेड़ पौधों के संवर्धन, संरक्षण को भी हम अपनी सुविधानुसार छोटा-बड़ा करना चाहते हैं। वर्तमान समय में प्रकृति और मनुष्य के संबंधों की गूढ़ता व प्रगाढ़ता के बारे में जे. कृष्णमूर्ति जी का मानना था कि—

“प्रकृति के साथ अपने संबंधों को समझना उतना ही कठिन है जितना पड़ोसी, पानी और बच्चों के साथ अपने संबंधों को समझना। परन्तु हम कभी इसके बारे में विचार नहीं करते।”

श्री जे. कृष्णमूर्ति जी के विचार इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि यदि वास्तव में हम अपने पर्यावरण अथवा प्रकृति से प्रेम करते हैं

तो उसके उपयोग में भी पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए। भले ही आज के इस वैश्वीकरण के दौर में नगर संस्कृति को पुनः वन्य संस्कृति के रूप में परिणित नहीं किया जा सकता किन्तु वन्य संस्कृति में निहित प्रमुख तत्वों को तो लिया ही जा सकता है। भारतीय संस्कृति जिसमें सामाजिक सदभाव, नैतिक मूल्य, संवेदनशीलता, आचरण की मर्यादा समाहित है, उसे पुनर्जीवित करते हुए हम मानव का उसके पर्यावरण के साथ संबंध जोड़ सकते हैं। इसके लिए हमें सर्वप्रथम सम्पूर्ण मानवता के लिए संवेदनशील होना होगा, तब कहीं शायद हम मानव व पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों को जान सकेंगे।

अन्ततः वर्तमान संदर्भ में यह कहना प्रासंगिक होगा कि हमें सुविचारित ढंग से भारतीय संस्कृति और पर्यावरण के संबंधों को पुनर्जीवित करना होगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति भी विश्व में अपनी पहचान तभी बना सकेगी जब कि उसमें निहित पर्यावरणीय तत्वों को प्राथमिकता दी जाएगी। प्रकृति के संरक्षण संवर्धन में ही हमारा कल्याण छिपा है। प्रकृति के साथ छेड़छाड़ या अतिशय दोहन निश्चित रूप से मानव को विनाश के गर्त में ले जाएगा, जिसे प्रकृति का प्रतिकार ही कहा जा सकता है।

# ‘21वीं सदी में उच्च शिक्षा की चुनौतियाँ’ भविष्योन्मुखी दृष्टि और उच्च शिक्षा

अनुज कुमार\*

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारी परिवर्तन हुए हैं। परन्तु आज भी इसमें सुधार की गुंजाइश बनी हुई है। 21वीं सदी में उच्च शिक्षा के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं जिनसे निपटना अत्यंत जरूरी है। इसके लिए हमें भविष्य को ध्यान में रखते हुए नियोजित शैक्षिक नीतियों एवं कार्यक्रमों को व्यवहार के धरातल पर लाकर कार्यक्रम देना होगा। एक ओर जहाँ उच्च शिक्षा की बढ़ती माँग की पूर्ति के लिए उच्च शिक्षा संस्थानों की संख्या में वृद्धि करने की जरूरत है वहीं दूसरी ओर इसमें गुणात्मक सुधार लाने व इसे आवश्यकता आधारित बनाने की भी आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में उच्च शिक्षा की चुनौतियों का सामना करने के लिए भविष्य में भारत में उच्च शिक्षा के स्वरूप पर विश्लेषणात्मक टिप्पणी की गई है।

सभ्यताओं के उद्भव काल से शिक्षा का अस्तित्व रहा है। शिक्षा के उद्देश्य में ‘विद्याया विमुक्तये’ अर्थात् विद्या मुक्ति का मार्ग है कि अवधारणा रही है। यह मानव जीवन का प्रमुख अंग है। शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों के स्वाभाविक और सामंजस्यपूर्ण विकास में योग देती है। उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करती है। उसे अपने वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने में सहायता देती है। उसे जीवन और नागरिकता के

कर्तव्यों और दायित्वों के लिए तैयार करती है और उसके व्यवहार, विचार और दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन करती है जो समाज, देश और विश्व के लिए हितकर होता है। ऐडम्स के अनुसार —

“शिक्षा एक ऐसी सुनियोजित प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उस पर दूसरे व्यक्तित्व का मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा प्रभाव पड़ता है।”

\* शिक्षक, (सामान्य विज्ञान) जवाहर नवोदय विद्यालय, सिरमौर, रीवा (म.प्र.).

व्यापक अर्थों में यदि शिक्षा को परिभाषित किया जाए तो यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवनपर्यन्त चलती है। यह मात्र किसी शैक्षणिक संस्थान या पाठ्यक्रम से ही संबंधित नहीं है बल्कि जीवन के हर क्षण का अनुभव है जिससे व्यक्ति सीखता है।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक, प्रारंभिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा के विभिन्न मुद्दों पर शैक्षिक संवाद आयोजित होते रहे हैं और परिणाम-स्वरूप इस क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन भी हुए हैं। आज शिक्षा का क्षेत्र व्यापक होने के साथ-साथ बहुआयामी भी हो गया है। यदि विशेष रूप से उच्च शिक्षा के संदर्भ में दृष्टिपात किया जाए तो यह किसी देश की ऐसी कड़ी है जिसके अभाव में किसी क्षेत्र में समुचित विकास के अच्छे सोपान नहीं गढ़े जा सकते हैं। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से सरकारों, शिक्षाविदों, शैक्षिक प्रशासकों, नीति निर्माताओं और शैक्षिक बुद्धिजीवियों द्वारा इन बिखरी कड़ियों को सुलझाने के प्रयास किए जाते रहे हैं परंतु आज भी इनमें सुधार की गुंजाइश बनी हुई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अनुच्छेदों में यह कहा गया है कि—

“शिक्षा इस समय भारत में चौराहे पर खड़ी है न क्षैतिज विस्तार और न ही सुधार की वर्तमान गति और प्रकृति स्थिति की अपेक्षाओं के अनुरूप है। 24 वर्ष व्यतीत होने के बाद भी उपरोक्त वाक्य आज की परिस्थिति के अनुरूप ही है।”

ज्ञान को 21वीं सदी की प्रमुख प्रेरक शक्ति माना गया है। वैश्विक स्तर पर एक प्रतियोगी के रूप में उभरने की किसी देश की क्षमता मूलतः ज्ञान संसाधनों पर निर्भर करेगी। क्रमिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए एक ऐसा बदलाव

जरूरी है जो समूचे ज्ञान क्षेत्र की समस्याओं की ओर ध्यान दे सकें—

- ज्ञान की सुलभता बढ़ाना।
- अनुसंधान, विकास और नवाचार संरचनाओं को नया रूप देना।
- बेहतर सेवाएँ उत्पन्न करने के लिए ज्ञान अनुप्रयोगों का लाभ उठाना।

### भविष्योंमुखी दृष्टि एवं उच्च शिक्षा

आज 21वीं सदी में उच्च शिक्षा के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं जिनसे न निपटकर हम भावी पीढ़ी के साथ न्याय नहीं कर सकते और पीढ़ियाँ इसके लिए हमें उत्तरदायी ठहराएंगी।

आज पूरी दुनियाँ में शिक्षा को अनिवार्य और सशक्त बनाने के लिए नित नए प्रयोग हो रहे हैं। शिक्षा की प्रणाली एवं उसके स्वरूप में परिवर्तन किए जा रहे हैं। भूमंडलीकृत विश्व में विकसित और कारपोरेट देशों के द्वारा आर्थिक नीतियों को दृष्टिगत कर शिक्षा के क्षेत्र में अनेक नए मानक स्थापित किए जा रहे हैं परंतु विश्व प्रतिस्पर्धा से अलग आज तक अथक प्रयासों के बावजूद हमारी भारतीय शिक्षा, विशेष रूप से उच्च शिक्षा वह स्थान हासिल नहीं कर पाई है जिसकी हमें आज आवश्यकता है। भारतीय उच्च शिक्षा की चुनौतियों के समाधान के उद्देश्य से कई बार चर्चा होती है। शिक्षा के क्षेत्र में नए विचारों के क्रियान्वयन का या विचारों के स्तर पर आए बदलावों को यथार्थ में शैक्षिक संस्थानों में देखने का तो वहाँ सिर्फ एक ही जरिया सुनाई पड़ता है और वह है—शैक्षिक संवाद, संगोष्ठियाँ और सेमिनारों के आयोजन का, परंतु परिवर्तन कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।

किसी एक ही प्रकार की व्यवस्था में रहते-रहते और पुराने ढर्रे पर चलते-चलते एक जड़त्व की स्थिति आ जाती है जिससे हम बाहर नहीं आना चाहते हैं। परिवर्तनों की हवा चलती है। बाह्य बल के रूप में नए-नए विचार प्रयत्न करते हैं इस जड़त्व से निकलने का, परंतु यह व्यवस्था का दोष कहें या अभिप्रेरणा का अभाव जो परंपरा से हटकर नए सृजन नहीं करने देती है। भारत में उच्च शिक्षा का इतिहास काफी पुराना है वैदिक काल से लेकर मुगल काल तक राजपदधारकों द्वारा शिक्षा को एक विशिष्ट वर्ग तक सीमित रखा गया। औपनिवेशिक काल में आधुनिक शिक्षा के प्रयासों के तहत 1857 में बम्बई, कलकत्ता व मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। आजादी के समय तक भारत में विश्वविद्यालयों की कुल संख्या 20 तथा महाविद्यालयों की कुल संख्या 500 थी आज यह संख्या काफी बढ़ चुकी है। जिसके आँकड़ें वर्तमान में इस प्रकार हैं—राष्ट्रीय महत्त्व के संस्थानों की संख्या को मिलाकर विश्वविद्यालयों की कुल संख्या 367 तथा महाविद्यालयों की संख्या 18064 है। जिसमें कुल नामांकन लगभग 1.10 करोड़ है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत स्थापित 5 महिला विश्वविद्यालयों सहित मुक्त विश्वविद्यालयों की संख्या 11 है। उच्च शिक्षा में नामांकन वृद्धि दर 6.7% है। देश में विधि संस्थानों की संख्या 750 है जिसमें कुल नामांकन 3.36 लाख है, चिकित्सा शिक्षा के 2092 संस्थान हैं जिसमें 348485 नामांकन है। इंजीनियरिंग के 1512 संस्थान हैं जिसमें कुल नामांकन 7.95 लाख है। देश में प्रबंधन के 1100 संस्थान हैं जिनकी दाखिला क्षमता 92000 है। उच्च शिक्षा

के क्षेत्र में कार्यरत अध्यापकों की संख्या 4.88 लाख है वहीं छात्र-अध्यापक अनुपात 18.1 है। आजादी प्राप्ति के बाद से आज तक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि उल्लेखनीय सुधार हुए हैं परंतु यह भी सच है कि भारत में शिक्षा की कहानी कथनी और करनी, कामना और कर्म, प्रयास और परिणामों के बीच भारी अंतर की कहानी है।

### उच्च शिक्षा का स्वरूप कैसा हो

21वीं सदी में उच्च शिक्षा की चुनौतियों से निपटने हेतु हमें भविष्य को दृष्टिगत कर नियोजित शैक्षिक नीतियों एवं कार्यक्रमों को व्यवहार के धरातल पर लाकर कार्य रूप देना होगा।

हम जिस प्रकार के समाज का निर्माण करना चाहते हैं उसी के अनुरूप हमारी शिक्षा प्रणाली भी होनी चाहिए। यह कहा जा सकता है कि वही देश जीवित रह सकता है जिसकी नजर भविष्य पर टिकी हो। हमारी भावी शिक्षा मानव समाज के शिक्षा निर्देश के लिए योग्यतम नायकों को जन्म दे सके यही हमारी शिक्षा का लक्ष्य एवं भविष्योन्मुखी दृष्टि होनी चाहिए। यद्यपि भारतीय शिक्षा के लक्ष्य महान हैं परंतु उनके साधनों की लघुता है। इन लक्ष्यों की महानता और साधनों की लघुता का खेल विगत कई पंचवर्षीय योजनाओं से दिख रहा है। आज की उच्च शिक्षा में नितांत मौलिक सुधारों की आवश्यकता को हम नजर अंदाज नहीं कर सकते।

हमारी शिक्षा व्यवस्था इस सुधार को महसूस तो करती है परंतु हमारे कदम प्रभावी क्यों नहीं हो पाते? यह शोध का विषय है। एक ऐसे समय जब शिक्षा सिर्फ बेहतर सामाजिक न्याय की ही

बात नहीं बल्कि आर्थिक विकास और संपदा सृजन के लिए भी महत्वपूर्ण बन गई है हम विलंब, स्थगन और असमंजस की स्थिति बरकरार नहीं रख सकते। परिस्थिति की माँग है स्पष्ट दिशा निर्देश एवं संकल्पयुक्त कार्य की। विगत दशकों में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में एक स्वाभाविक परिवर्तन यह आया है कि शिक्षा की जरूरत जो हमेशा रही है वह अब शिक्षा की माँग बन गई है। इस प्रक्रिया में आज वह भौतिक सामग्री (जींस) की तरह बनकर रह गई है। लेकिन प्रायः देखा यह जा रहा है कि जिस तंत्र पर इसे उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी है वह एक बुनियादी ढाँचा, फार्म और विषयवस्तु में सिमटकर रह गई है। आज जनसामान्य की आकाँक्षा है कि उच्च शिक्षा की उपलब्धता सहज एवं गुणवत्ता बेहतर हो। आज भारत का एक वर्ग दुनिया के सुशिक्षित व्यक्ति से बेहतर है लेकिन मध्य एवं निम्न वर्ग के लोग इस तेजी से आधुनिक बन रहे विश्व से पीछे हैं। इस समय महत्वपूर्ण कार्य यह है कि समाज में ऐसी क्षमता निर्मित की जाए जिसकी सहायता से शिक्षा प्रक्रिया में सुधार लाया जा सके। हमें देखना है कि शिक्षा व्यवस्था से समाज में विषमताएँ न बढ़ें।

### भविष्योमुखी दृष्टिकोण एवं उच्च शिक्षा के संदर्भ में बिंदुवार चर्चाएँ—

- उच्च शिक्षा की बढ़ती माँग की पूर्ति हेतु आज आवश्यकता है शैक्षिक संस्थानों में वृद्धि करने की। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात शासकीय और अशासकीय उच्च शैक्षिक संस्थाओं की संख्या तथा नामांकन

अनुपात में पर्याप्त वृद्धि हुई है परंतु मानवीय कौशल एवं रोजगार आधारित डिग्रियों के कारण शैक्षिक अवसरों की बढ़ती माँगों को पूरा करने के लिए यह अपर्याप्त है। इस दृष्टि से विदेशी विश्वविद्यालयों एवं निजी विश्वविद्यालयों के आगमन एवं स्थापना की स्वीकृति प्रदान कर भारत के विविध क्षेत्रों में उनके प्रसार की व्यवस्था करना।

- भारतीय उच्च शिक्षा की नीतियों एवं कार्य योजना के अंतर्गत वृहत्तर वृद्धि, समान वृद्धि, गुणवत्ता और श्रेष्ठता, प्रासंगिकता तथा मूल्य आधारित शिक्षा जैसे पाँच लक्ष्य सम्मिलित हैं। भविष्य की चुनौतियों से निपटने, मानव की योग्यताओं में वृद्धि करने तथा विद्यार्थियों को सृजनात्मक एवं परिवर्तनकारी बनाने हेतु उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार करना आवश्यक है।

शैक्षिक संस्थानों की गुणवत्ता के स्तर पर ही शैक्षिक उत्कर्ष का उद्देश्य सुनिश्चित होता है अर्थात् शैक्षिक उपभोक्ता यथा विद्यार्थी, अभिभावक, समुदाय एवं नियोक्ता आदि की पूर्ण संतुष्टि का स्वरूप ही शैक्षिक संस्थानों की गुणवत्ता का द्योतक है। शैक्षिक उत्पादों की उत्कृष्टता ही राष्ट्र के अन्य उत्पादों की उत्कृष्टता का आधारभूत घटक होती है। इसलिए राष्ट्र के शैक्षिक व्यय को निवेश की संज्ञा दी गई है। प्रो. ब्लाक मार्क ने अपनी पुस्तक *Investment to the Economics of Education* में लिखा है कि शिक्षा के क्षेत्र में लगाया गया धन राष्ट्र को बहुआयामी प्रतिफल प्रदान करता है। शिक्षा में संपूर्ण गुणवत्ता प्रबंधन की अवधारणा का चलन



बढ़ा है। आज वही शैक्षिक संस्थान सार्थक व प्रासंगिक है। जो तथ्यपरक चुनौतियों का सामना करते हुए अपने लाभुकों की अपेक्षाओं को पूर्ण कर उन्हें अपनी सेवाओं से उच्च स्तर का संतोष प्रदान करें। गुणवत्ता प्रबंधन की प्रक्रिया में गुणवत्ता सुनिश्चितीकरण एक प्रमुख सोपान व तथ्यपरक कदम होता है जिस पर चलकर ही शिक्षा में संपूर्ण गुणवत्ता प्रबंधन की धारणा को साकार रूप दिया जा सकता है। इस उद्देश्य से शैक्षिक सेवा क्षेत्र में गुणवत्ता सुनिश्चितीकरण के आवश्यक वैज्ञानिक संसाधनों की स्थापना भी की गई है। उदाहरणार्थ—भारत में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता की दृष्टि से राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद् (नैक), दूरस्थ शिक्षा की दृष्टि से दूरस्थ शिक्षा परिषद् (डैक), तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में ए.आई.सी.टी.ई. अध्यापक शिक्षा के क्षेत्र में एन.सी.टी.ई. आदि जैसे अनेक संस्थान उच्च शिक्षा के नियामक कहे जा सकते हैं। ये संस्थान अपने गुणवत्ता नियामक एवं प्रमाणन स्वभाव के अनुसार बहुत हद तक गुणवत्ता सुनिश्चितीकरण करते हैं। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आई.एस.ओ. मानक संस्थान भी शैक्षिक संस्थानों की संसाधनीय गुणवत्ता के संबंध में आश्वासन प्रदान कर गुणवत्ता सुनिश्चितीकरण की प्रक्रिया को सबलता प्रदान कर रहे हैं। शैक्षिक संस्थानों में गुणवत्ता के आधार पर रैंकिंग प्रणाली का विकास हो गया है। भविष्य में यदि इन संसाधनों द्वारा वैश्विक आयाम, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, क्षेत्रीय आयाम एवं बाजारीकरण की पृष्ठभूमियों को ध्यान में रखकर गुणवत्ता सुनिश्चितीकरण की अवधारणा को

अपनाया जाता है तो निश्चित रूप से 21वीं सदी में उच्च शिक्षा की चुनौतियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसकी आज महती आवश्यकता भी है। इसके साथ ही उच्च शैक्षिक संस्थानों को अपने पुष्टि आश्वासन और शिक्षा की गुणवत्ता का 'आंतरिक यंत्र रचना' भी स्थापित करने हेतु प्रेरित किया जाना चाहिए। बाह्य गुणवत्ता का निर्धारण आंतरिक गुणवत्ता के आधार पर करने की आवश्यकता है। विगत दिनों इन नियामक संस्थाओं में उच्च स्तर के भ्रष्टाचार प्रकाश में आए हैं। भविष्य में ऐसी गतिविधियों पर नियंत्रण के लिए विशिष्ट एजेंसी का निर्माण इनकी पारदर्शी देख रेख के उद्देश्य से किया जाना चाहिए।

विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में परिणामात्मक रूप से भौतिक विशिष्टताओं, आधारभूत शैक्षिक संरचना और मानवीय संसाधनों द्वारा उच्च स्तर का साक्ष्य मिलता है। आवश्यकता है आधारभूत शैक्षिक संरचना एवं मानवीय संसाधनों में निवेश कर अपेक्षित सुधार करने की। वर्तमान सरकार भी उच्च शिक्षा की चुनौतियों को स्वीकार कर शिक्षा के क्षेत्र में पहले की तुलना में अधिकाधिक निवेश कर रही है। 10वीं पंचवर्षीय योजना में केंद्र सरकार ने कुल बजट का 7.7% हिस्सा शिक्षा पर खर्च किया है। वहीं ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में यह राशि 11% की गई है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सीमा क्षेत्र में अधिक से अधिक विश्वविद्यालयों एवं कॉलेजों को लाकर तथा उन्हें आधारभूत संरचनाओं जैसे—सूचना एवं संप्रेषण तकनीक को महत्त्व देने की नीति, इमारतों के निर्माण उपकरणों की खरीद, छात्रावास, पुस्तकालय, दैनिक वस्तुओं की उपलब्धता

आदि की व्यवस्था के द्वारा शिक्षा की गुणवत्ता को सुनिश्चित किया जा सकता है। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अनुदान राशि तथा राज्य सरकारों द्वारा वित्तीय सहायता की व्यवस्था एक लाभकारी कदम होगा। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण तथा दक्षता संवर्धन के लिए व्यापक स्तर पर ई-संसाधनों के उपयोग को बढ़ाने की आवश्यकता है।

सूचना प्रौद्योगिकी स्थान, काल एवं समय के बंधनों को तोड़कर अत्यंत तीव्रता से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर रही है। टेलीफोन, मोबाइल, इंटरनेट, वायसमेल, ब्राडबैंड सर्विस, वीडियो कान्फ्रेंसिंग, ई-मेल, सेटलाइट टी.वी. के उपयोग से भूमंडलीय परिदृश्य सिमट चुका है। सूचना व संप्रेषण तकनीक के उपयोग से दूरवर्ती स्थानों पर भी अपनी बात सरलता से संप्रेषित की जा सकती है। इन प्रौद्योगिकियों का उपयोग शिक्षा के सभी स्तरों पर किया जा सकता है। नेटवर्क, संसाधन, ऑनलाइन लर्निंग, रिकार्डों के डिजिटलीकरण, मल्टीमीडिया शोध केंद्र एवं आडियो वीडियो केंद्रों की स्थापना, विकास व इनके प्रसार से भारतीय शिक्षा को अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली से संबद्ध कर गुणवत्ता पूर्ण बनाया जा सकता है।

- उच्च शिक्षा के संदर्भ में प्रजातांत्रिक मूल्यों और समाजवादी समाज की स्थापना जैसे हितों को ध्यान में रखकर भविष्योन्मुखी दृष्टिकोण अपनाए जाने की आज महती आवश्यकता है। न्यायसंगत सुधारों के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, लैंगिक व क्षेत्रीय असमानताओं को दूर कर उच्च शिक्षा की पहुँच को सहज और सुलभ बनाया जा सकता है। उच्च शिक्षा में नामांकन

दर के सर्वेक्षण से चार प्रकार की असमानताएँ उजागर होती हैं। आंतरिक राज्य, ग्राम, नगर, आंतरिक सामाजिक समुदाय, स्त्री-पुरुष तथा अमीर-गरीब। कई राज्यों में उच्च शिक्षा लाभार्थियों का अनुपात राष्ट्रीय औसत से कम है। अनुसूचित जाति, जनजाति व अन्य पिछड़ा वर्ग तथा लिंग संबंधी असमानता के अंतर्गत निम्न जाति से संबंधित महिलाओं तथा अन्य धार्मिक समुदायों की तुलना में मुसलमानों की निम्न शैक्षिक प्रस्थिति एक बड़ी बाधा है। इसके समाधान हेतु विश्वविद्यालयों और कालेजों द्वारा ग्रामीण क्षेत्र के विद्यार्थियों, लड़कियों तथा सामाजिक, आर्थिक, व्यवसायिक समुदायों के विकास हेतु योजनाएँ संचालित करनी चाहिए ताकि ग्राम, शहर, राज्यों, स्त्री-पुरुष, अंतर्राज्य के नामांकन दर के अंतर को समान स्तर पर लाया जा सके।

- किसी देश विशेष की उच्च शिक्षा का लक्ष्य उस देश की सभ्यता, परंपरा, इतिहास, भूगोल व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाया जाना चाहिए। इस दृष्टि से उच्च शिक्षा में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विकास की माँगों को पूरा करने की क्षमता हो, साथ ही वह कार्य अनुभव पर आधारित व्यवसायिक आधारों को दृष्टिगत कर देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर सके। उच्च शिक्षा के विकास हेतु शिक्षा को विकसित करना अत्यंत आवश्यक है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु व्यावसायिक एवं रोजगारोन्मुख पाठ्यक्रम का विकास, कौशल विकास केंद्रों की स्थापना बाजार की आवश्यकता के अनुसार स्थापित

की जानी चाहिए। विद्यार्थियों को महान विचारक बनाने और उनमें परिवर्तनकारी विचारों को बढ़ाने हेतु प्रबंधकीय व मानवीय कौशल में वृद्धि आवश्यक है। बाजार की आवश्यकता एवं भूमंडलीकृत विश्व की माँग एवं कार्पोरेट जगत के श्रम संसाधनों को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रमों के निर्माण एवं विकास द्वारा उच्च शिक्षा को उन्नत एवं समयानुकूल बनाया जा सकता है इस दृष्टि से प्रत्येक संस्थान में जीविका तथा परामर्श विभाग का सृजन कर युवकों को उच्च शिक्षा के लाभ से कैरियर निर्माण की ओर प्रेरित किया जा सकता है।

- उच्च शिक्षा के प्रति भविष्योन्मुखी दृष्टि के अंतर्गत वृहद स्तर पर शोध केंद्रों की स्थापना द्वारा नए विचारों के उद्भव एवं उनके कार्यरूप द्वारा ज्ञान आधारित भू-आर्थिक दुनियाँ में हम अपना झंडा बुलंद कर सकेंगे। डाक्टरल अध्ययेतावृत्ति, शोध अनुदान, अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन गोष्ठियाँ तथा सम्मेलनों का आयोजन अनिवार्य है। प्राध्यापकों एवं छात्रों को उच्च शोध सुविधा के अवसर मुहैया कराकर तथा उच्च कोटि के शोध कार्य में संलग्न व्यक्तियों हेतु शोध पुरस्कारों की व्यवस्था कर मनोबल को बढ़ाया जा सकता है।
- गुणवत्ता और क्षमता निर्माण करने वाली ज्ञान की क्रांति हमारे देश के 25 साल से कम आयु के 55 करोड़ युवाओं की मानवीय पूँजी को सामर्थ्यवान बना सकेगी। हमारा अनूठा जनसाँख्यिकीय लाभ जबरदस्त अवसर

के साथ-साथ एक दुष्कर चुनौती भी पेश करता है। जिसके लिए एक-नए ज्ञानोन्मुखी प्रतिमान के निमित्त रचनात्मक कार्यनीतियों की जरूरत है। भविष्य में चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए देश के ज्ञान संबंधी संसाधनों और बुनियादी तंत्र के सुधार के लिए एक कार्य योजना तैयार करने के उद्देश्य से जून 2005 में सैम पित्रोदा की अध्यक्षता में 'राष्ट्रीय ज्ञान आयोग' की स्थापना की गई है। राष्ट्रीय जन आयोग ने अपने 4 वर्ष के कार्यकाल में कई महत्वपूर्ण सिफारिशों की हैं जिनके व्यवहार्यता से उच्च शिक्षा की चुनौतियों के हल का अवसर प्रस्फुटित होगा।

- उच्च शिक्षा के प्रभावी कार्यान्वयन व प्रभाव मूलक परिणामों की दृष्टि से प्रशासनिक संरचना में बदलाव की आवश्यकता है। आज उच्च शिक्षा के प्रशासनिक पद राजनीति के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। विगत वर्षों में कुलाधिपति-कुलपति विवाद, उच्च शैक्षिक संस्थानों के महत्वपूर्ण पदों पर राजनैतिक नियुक्तियाँ, बे-लगाम होती छात्र राजनीति ने उच्च शिक्षा की दशा और दिशा को प्रभावित किया है। इस संदर्भ में 'राष्ट्रीय उच्च शिक्षा नियामक आयोग' की स्थापना भविष्य के लिए सुखद साबित हो सकती है। शिक्षा के व्यय साध्य होने के कारण छात्रों के लिए शिक्षा ऋण की अवधारणा जन्म ले चुकी है परंतु उनकी कठोर शर्तों व सरकारी औपचारिकता ने शिक्षार्थी के मनोबल को तोड़ा है। इस समस्या के समाधान हेतु सरकार 'राष्ट्रीय शैक्षिक वित्त आयोग' की स्थापना भविष्य में करने हेतु प्रस्ताव ला रही

है जो शैक्षिक अवसरों को सुलभ बना सकेगी। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में छात्र-प्रबंधन तथा अध्यापक-प्रबंधन के बीच आए दिन बढ़ रहे विवादों के कारण उत्पन्न मुकदमोंबाजी को हल करने हेतु 'शैक्षिक ट्रिब्यूनल' की स्थापना की कार्यवाही भी सही साबित होगी। आज निजी व व्यावसायिक शिक्षण संस्थानों ने डोनेशन एवं कैपिटेशन फीस के नाम पर गलत ढंग से छात्रों से राशि वसूल कर शिक्षा को व्यापार का रूप दे दिया है जिस पर लगाम लगाने हेतु कानूनी प्रावधानों की आवश्यकता है। यदि उपरोक्त नवविचारों को संस्थागत रूप देकर चुनौतियों पर विजय पाने के दृढ़ संकल्पित प्रयास किये जाए तो सफलता देर से ही सही परंतु अवश्य मिलेगी। शैक्षिक प्रशासकों की नियुक्ति के लिए संवैधानिक निकायों का गठन तथा उन्हें कालबद्ध प्रशिक्षण प्रदान कर उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाना भी एक प्रभावी कदम होगा।

## निष्कर्ष

आज 21वीं सदी में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जो चुनौतियाँ उभरी हैं उन्होंने शिक्षाविदों, शैक्षिक प्रशासकों, विद्यार्थियों, योजनाकारों, अभिभावकों और नीति निर्माताओं को चिंतन के लिए बाध्य किया है। आवश्यकता है चुनौतियों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर दीर्घकालीन नियोजन, राजनैतिक, प्रशासकीय दृढ़ इच्छाशक्ति, जनसहयोग और जनकल्याण की भावना से संबंधित व्यक्तियों द्वारा अपने उत्तरदायित्वों के निर्वहन की। चिंतन में नवाचार एवं नई प्रविधियाँ, शैक्षिक प्रावधानों के लिए आवश्यक दिशा निर्देश उपलब्ध करा सकेंगे। 11वीं पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण पत्र का मसौदा भी हमारी उच्च शिक्षा की चुनौतियों से निपटने हेतु भविष्योमुखी दृष्टिकोण पर आधारित है। नई वैचारिक क्रांति को व्यवहार्य रूप देकर विश्व शैक्षिक मंच पर हम नेतृत्व करने में सक्षम हो सकेंगे यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है।

## संदर्भ

- अग्रवाल जे.सी. 2007. *भारत में शिक्षा व्यवस्था का इतिहास*, शिप्रा पब्लिकेसंस, दिल्ली  
 चवन माधव, भारत को शिक्षा-कैसे? *योजना*, अगस्त 2007  
 शर्मा, शशिप्रभा 2008. *श्रेष्ठ निबंध*, अरिहंत पब्लिकेसंस, मेरठ  
 लोढ़ा, जितेंद्र कुमार, शिक्षा में गुणवत्ता का चिंतन, *दर्पण*, अप्रैल 2009  
 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली की 11वीं पंचवर्षीय योजना का दृष्टिकोण पत्र, मार्च 2007  
 शारदा, जितेंद्र 2003. *शिक्षा की समस्याएँ*, कृति प्रकाशन दिल्ली  
 सुमन, शिवमंगल सिंह, विश्वविद्यालय शिक्षा, *योजना*, जनवरी 2007

# राजा राममोहन राय

## भारत में आधुनिक शिक्षा के अग्रदूत

रश्मि श्रीवास्तव\*

हमें इस बात को खुले मन से स्वीकार करना होगा कि सामाजिक नीति-नियम तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप गठित होते हैं। आगे चलकर परिवर्तित सामाजिक संरचना में, इनमें हेर-फेर करने, उन में संशोधन करने में हिचक कैसी? किसी भी सामाजिक व्यवस्था में परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन जरूर किये जाने चाहिए। राजा राममोहन राय देश की शिक्षा व्यवस्था में इसी उदारता का समावेश चाहते थे। ज्ञान-विज्ञान के विस्तार व पुनर्जागरण से जिन सकारात्मक पक्षों का उद्भव हुआ है वह उनका समावेश भारत की शिक्षा व्यवस्था में करना उचित मानते थे। प्रस्तुत लेख उनके इसी उदारवादी दृष्टिकोण को रेखांकित करता है, जिसकी वर्तमान संदर्भ में अपनी विशेष महत्ता है।

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में आधुनिकीकरण की जो प्रक्रिया आकार ले रही थी उसे सही दिशा देने में राजा राममोहन राय के प्रयासों को हम अनदेखा नहीं कर सकते हैं। राजा राममोहन राय महान समाजसुधारक थे और उन्होंने अपने कार्यों का केंद्र शिक्षा को बनाया था, यही कारण है कि भारत में आधुनिक शिक्षा के इतिहास में उनका नाम सम्मान के साथ दर्ज है। राजा राममोहन राय का जन्म 1772 में बंगाल में

हुगली जिले के राधानगर ग्राम में हुआ था। उनके प्रपितामह कृष्णचन्द्र बनर्जी को बंगाल के नवाब से मिली 'राय' की उपाधि के कारण पूरा परिवार राय के नाम से जाना जाता था। राजा राममोहन राय की माता का नाम तारिणी देवी तथा पिता का नाम रमाकान्त राय था। वह बचपन से ही बड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे। उन्होंने बंगला, फारसी, अरबी, हिंदी, संस्कृत, अंग्रेजी, ग्रीक, फ्रेंच तथा लैटिन भाषाओं पर अपना

\*विभागाध्यक्ष (बी.एड.) हीरालाल यादव बालिका डिग्री कालेज, सरोजनी नगर, लखनऊ (उ. प्र.).

अधिकार प्राप्त किया था। भाषा ज्ञान की समृद्धता के कारण वह विश्व के श्रेष्ठ साहित्य से परिचित हो चुके थे। युवा राय दूरदर्शी एवं कुशल राजनेता तथा कूटनीतिज्ञ थे। लगभग 10 वर्ष तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी में दीवान के पद पर नौकरी करने के पश्चात् 1814 में यह नौकरी छोड़कर वह समाज सुधार तथा सत्य की खोज में कलकत्ता में रहने लगे। यहाँ उन्होंने आत्मीय सभा की स्थापना की। 1815 में उन्होंने ब्रह्मसूत्र का बँगला में अनुवाद किया। अपने ढेरों सामाजिक-राजनीतिक क्रियाकलापों के बीच उनका अन्तर्मन इस अवधि में भारतीय नारियों की स्थिति के प्रति बड़ा ही संवेदनशील हो उठा था। 1818 में उन्होंने सती प्रथा के उन्मूलन के लिए विख्यात अन्दोलन प्रारम्भ किया। इस बीच वे अपने लेखनकार्य द्वारा सामाजिक उत्थान का प्रयास भी करते रहे। 1815 से 1820 के बीच उन्होंने केनोपनिषद् एवं ईशोपनिषद् का बँगला और अँग्रेजी में अनुवाद किया साथ ही ईसाई धर्म की अनेक पुस्तकों पर वे अपनी व्याख्याएँ देते रहे। उन्होंने बँगला भाषा में संवाद कौमुदी की भी रचना की। उनके द्वारा शुरु किये गए सती प्रथा आन्दोलन ने भी सकारात्मक दिशा प्राप्त की और 1829 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। हिंदू नारियों को इस प्रथा से मुक्ति दिलाने के कारण वह भारत में अमर हो गए। सन् 1827 में उन्होंने ब्रिटिश इण्डिया यूनिटेरियन एसोसियेशन तथा 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। औपचारिक रूप में ब्रह्म समाज का उद्घाटन 23 जनवरी 1830 को

हुआ। ब्रह्म समाज के माध्यम से उन्होंने उदारवाद, एकेश्वरवाद तथा आधुनिकतापूर्ण विचारों का प्रचार प्रसार देश के कोने-कोने में किया। उनके विचारों ने भारत में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। ब्रह्म समाज एक राजनीतिक आन्दोलन नहीं था किन्तु इस आन्दोलन द्वारा प्रसारित बुद्धिवादी, सार्वभौमवादी तथा मानवतावादी विचारों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की बौद्धिक नींव तैयार कर दी थी। ब्रह्म समाज का मानना था कि निराकार सर्वव्यापी व सनातन ईश्वर की पूजा व स्तुति की जाए। पूजा व स्तुति में सभी प्रकार के व्यक्ति बिना भेदभाव के एकत्रित हों। ईश्वर की पूजा, धर्म, नैतिकता, दया, परोपकार व अन्य सदगुणों की वृद्धि एवं सभी धर्मावलम्बियों में भाईचारा बढ़ाने के लिए की जानी चाहिए। यहाँ उन्होंने मूर्ति पूजा से खुद को अलग रखा।

वास्तव में ब्रह्म समाज एक ऐसा आन्दोलन था जो पतन की ओर ले जाने वाली तथा बर्बर बनाने वाली रूढ़ियों के विरुद्ध था। यह वैयक्तिक बुद्धि, हृदय व अन्तःकरण के उदय का द्योतक था। इस आन्दोलन की तुलना यूरोप के बुद्धिवादी जागरण और स्वतंत्र चिंतन के आन्दोलन से की जा सकती है।

भारतीय सामाजिक, राजनीतिक परिवेश में जनजागृति की ज्योति प्रज्वलित करने वाली इस महान आत्मा ने 20 सितम्बर 1833 को ब्रिस्टल में आखिरी साँसे लीं। अपने जीवनकाल में उन्होंने जिन बहुमूल्य कृतियों की रचना की वह निम्नवत् हैं—

1. 'वेदान्त सूत्र' का बँगला भाषा में अनुवाद।
2. 'वेदान्त' का अँग्रेजी अनुवाद।

3. दि ज्यूडिशियल एण्ड रेवेन्यू सिस्टम ऑफ इंडिया।
4. रिमाक्स ऑन सैटलमेंट इन इण्डिया बाई यूरोपियन्स।
5. अंग्रेजी शिक्षा पर लार्ड एम्हर्स्ट के नाम पत्र
6. यूरोपवासियों को भारत में बसाने संबंधी विचार, आदि।

राजा राममोहन राय वास्तव में एक संवेदनशील प्राणी थे। समाज के किसी भी वर्ग के साथ होने वाले अन्याय से उनका मन द्रवित था। उन्होंने देखा कि जातिगत भेदभाव, तथा स्त्री-पुरुष के बीच होने वाले भेदभाव की जड़े भारत की परम्परावादी नीति नियमों के दूषित स्वरूप का परिणाम है। उनका मानना था कि हमें परम्परावादिता के नाम पर होने वाले किसी भी अन्याय को स्वीकार नहीं करना चाहिए। उनकी यही मुखरता, मानवमात्र के प्रति प्रेमभाव वह आधार था जिसने भारत की जनता को जागृत करने में बड़ा योगदान दिया था।

### राजा राममोहन राय की दार्शनिक विचारधारा

राजा राममोहन राय एक ऐसे विचारक थे जिन्होंने उपनिषदों के आध्यात्मिक एकत्ववाद के तात्विक सिद्धांत को स्वीकार किया था। वह एकेश्वरवादी थे उन्होंने नास्तिकता को प्रोत्साहन न देकर विश्वास के स्थान पर विवेकपूर्ण सृजन का समर्थन किया था। “व्यक्ति की गरिमा में उन्हें असीम विश्वास था। अतः उनकी मान्यता थी कि धर्म और विश्वास को व्यक्ति पर हावी नहीं होने देना चाहिये। चिंतन

में विवेक की प्रधानता उन्हें प्रिय थी। उन्होंने स्वयं को एक ऐसे विश्वधर्म के प्रतिपादक के रूप में प्रस्तुत किया जो सम्प्रदाय और परम्परा के समस्त अस्वस्थ बन्धनों को अस्वीकार करता है।”<sup>1</sup> विभिन्न धर्मों का गम्भीर अध्ययन करने एवं वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हो जाने के कारण वे विश्ववादी हो गए थे। उन्होंने कहा भी था—

“केवल धर्म से ही नहीं, प्रत्युत, अदूषित सामान्य बुद्धि एवं विज्ञान से भी यही ज्ञात होता है कि सारी मनुष्य जाति एक परिवार है तथा जो अनेक जातियाँ और राष्ट्र है, वे उसी एक परिवार की शाखाएँ हैं”<sup>2</sup>

राममोहन राय ने हिंदुत्व, इस्लाम और ईसाईयत तीनों धर्मों का गहन अध्ययन किया था। वह इन तीनों धर्मों पर समान अधिकार के साथ बोल सकते थे। इस्लाम की शिक्षा तथा ईसाइयों के प्रचार ने उनके मन में मूर्ति पूजा के प्रति शंका उत्पन्न कर दी थी किन्तु वेदान्त में उनकी आस्था बनी रही। उन्होंने एकेश्वरवाद की प्रशंसा की थी और विश्वधर्म को आवश्यक माना था। उनके चिंतन में प्राकृतिक धर्म के तत्व भी देखने को मिलते हैं। उन्हें आत्मा का अमरत्व में विश्वास था। उन्होंने नास्तिकता को प्रोत्साहन न देकर विश्वास के स्थान पर विवेकी सृजन का समर्थन किया था। वह आध्यात्मिक एवं धार्मिक जटिलताओं के साथ-साथ, सरल और बोधगम्य सिद्धांतों के पक्षधर थे। उन्होंने सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक ओर सच्चा वेदान्ती बनकर ईसाई मिशनरियों का प्रभाव रोका

<sup>1</sup> फाडिया, बी. एल. (2002)— भारतीय राजनीतिक चिंतन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 85.

<sup>2</sup> दिनकर, रामधारी सिंह (2005) संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 460.

तो दूसरी ओर विभिन्न धर्मों में प्रचलित रूढ़ियों, आडम्बरों एवं विधि-विधानों का परित्याग करने पर जोर दिया। डॉ. वर्मा स्वीकार करते हैं कि अपनी अधिक परिपक्व अवस्था में राय ने एक ऐसी आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिपादन किया जिसका शंकर के वेदान्त से बहुत कुछ साम्य है।<sup>3</sup> राममोहन राय का मानव प्रेम उनकी इस प्रार्थना में निहित है कि 'हे ईश्वर! तू धर्म को ऐसा बना दे कि यह मनुष्य और मनुष्य के बीच में पारम्परिक भेद-भाव और बैर-विरोध को मिटाने तथा मानव-जाति में शान्ति एवं एकता उत्पन्न करने में समर्थ हो। विश्व में एक सर्वशक्तिमान सत्ता है जो उदार और मंगलकारी है। ईश्वरत्व की एकता उनके दर्शन का केंद्रीय सिद्धांत था।<sup>4</sup>

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि यूरोप के सानिध्य में भारत में जिस नयी मानवता का जन्म हो रहा था वह हिंदू धर्म के आधार पर आकार ले रही थी। राममोहन राय इसे व्यापक तथा स्थाई बना देना चाहते थे जिसके लिए उन्होंने ब्रह्म समाज का आश्रय ले कर मूर्ति पूजा का बहिष्कार किया, अवतारों को नहीं माना और लोगों का ध्यान उस निराकार निर्विकार, एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। यह एक ऐसी विचारधारा थी जो सभी धर्मों के प्रति उदार तथा सहानुभूतिशील थी।

### राजा राममोहन राय के शिक्षा संबंधी विचार

राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने आधुनिक शिक्षा व्यवस्था को भारत में व्यवस्थापित

किये जाने पर बल दिया। उनके शिक्षा संबंधी विचारों का संक्षिप्त विवेचन निम्नवत् है।

### शिक्षा का अर्थ

राजा राममोहन राय का मानना था कि शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को अज्ञानता, अंधविश्वास, असमानता, अन्याय, संकीर्णता, धार्मिक कूपमण्डूकता से उबार जा सकता है। वह तत्कालीन परिस्थितियों में भारत की आर्थिक सीमाओं से भी परिचित थे और मानते थे कि इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए तुरन्त शिक्षा की व्यवस्था सम्भव नहीं है अतः शिक्षा के छनाई सिद्धांत का समर्थन कर 'जो मिले उसका लाभ अवश्य लें' की नीति का समर्थन किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा था शिक्षा आत्मोन्नति का साधन है। इसके द्वारा व्यक्ति के धार्मिक एवं नैतिक जीवन का स्तर ऊँचा उठता है। वह सामाजिक अन्याय एवं कुरीतियों को दूर भगाने का साधन है। यही कारण है कि उन्होंने सीमित संसाधनों द्वारा भारत के एक वर्ग को शिक्षित करने का समर्थन किया। वह जानते थे कि इस शिक्षित वर्ग के प्रभाव में अन्य दूसरे वर्ग की सोच भी सकारात्मक पक्ष की ओर मुड़ सकेगी। उन्होंने शिक्षा को आत्मोन्नति का साधन माना था और कहा था—

“यदि हम भारतीयों को तत्कालीन आराजकता की स्थिति में उनके नैतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक मूल्यों को बचाना चाहते हैं तो शिक्षा द्वारा उन्हें आत्मोन्नति का अवसर प्रदान करना होगा”।

<sup>3</sup> वर्मा, वी. पी., (2002), *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन*, लक्ष्मी नारायण, अग्रवाल, आगरा, पृ. 16-20.

<sup>4</sup> शर्मा, बी. एन. शर्मा, रामकृष्ण दत्त, शर्मा सविता, (2005), *भारतीय राजनीतिक विचारक*, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 172.



उन्होंने शिक्षा का आशय साक्षरता मात्र से नहीं लगाया बल्कि उनके अनुसार शिक्षा सामाजिक क्रांति एवं मानवतावादी विचारों का विकास करने वाली प्रक्रिया है।

### शिक्षा के उद्देश्य

राजा राममोहन राय ने अपने जीवन में जिन संस्थाओं के गठन में सहयोग दिया उनकी कार्य पद्धति तथा इनके लक्ष्य को देखकर हमें उनके शिक्षा के उद्देश्य संबंधी विचारों की जानकारी प्राप्त होती है।

उन्होंने शिक्षा का प्रधान उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन तथा आत्मोन्नति माना था अतः वह चाहते थे कि देश की शिक्षण संस्थाएँ विद्यार्थियों को सिर्फ सैद्धांतिक नीति नियमों की जानकारी न दे वह उन्हें भावी जीवन के लिए तैयार करें और उनके अन्दर आधुनिक मानवतावादी तथा उदारवादी सोच विकसित करें। उन्होंने शिक्षा द्वारा बालक के मानसिक विकास पर भी जोर दिया। अच्छी आदतों, आदर्श दृष्टिकोण और नैतिक मूल्य बालक के व्यक्तित्व को निखार देते हैं। अतः शिक्षा द्वारा इन गुणों का विकास भी बालक में किया जाए स्वयं में तमाम खूबियाँ विकसित कर यदि एक बालक अपने सामाजिक वातावरण में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता तो भी स्थितियाँ जटिल होंगी। अतः आवश्यक है कि शिक्षा एक बालक में अपने आस-पास के वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने की कला भी विकसित की जाए। वह चाहते थे कि इन आदर्श स्थितियों को प्राप्त करते हुए शिक्षा अवश्य ही एक व्यक्ति के

जीवकोपार्जन का साधन बनें। राय शिक्षा के द्वारा बालक में राष्ट्रीयता तथा अंतर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास भी चाहते थे। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को एकता के सूत्र में बाँधने का स्वप्न देखा था और वे शिक्षा के माध्यम से बालकों में विश्वबंधुत्व की भावना का विकास किया जाना आवश्यक मानते थे।

हम देखते हैं कि हमारी विविध समस्याओं की जड़ हमारी खुद की सोच है। परिवर्तित परिस्थितियों के बीच उदारता के साथ यदि आवश्यक परिवर्तनों को समय रहते स्वीकार किया जाए तो वे समस्याएँ छोटे स्तर पर ही समाप्त की जा सकती हैं। राजा राममोहन राय ने इसी बिन्दु को प्रधानता देते हुए शिक्षा द्वारा एक बालक में उचित दृष्टिकोण का विकास कर उसे वैचारिक संकीर्णता से मुक्त करना माना था। उनके यह विचार विकास की किसी भी अवस्था में बड़े प्रभावी हैं।

### पाठ्यक्रम

भारत के इतिहास पर नजर डालने पर हम देखते हैं कि मुगल साम्राज्य के मध्य शिक्षा के क्षेत्र में हुई अनदेखी का खामियाजा पूरे देश को भुगतना पड़ा था। पुनर्जागरण के प्रभाव से यूरोप जहाँ अपनी चमक पूरे विश्व में बिखेर रहा था, भारत अपनी विशिष्टता को दुनियाँ के सामने प्रदर्शित कर सकने में असमर्थ था। राय ने भारत को समृद्ध, सुसंस्कृत और सम्पूर्ण विश्व के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने की ताकत हेतु आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तथा अंग्रेज़ी शिक्षा की महत्ता को स्वीकार किया था। उन्होंने इस प्रकार के पाठ्यक्रम को महत्त्व दिया था जिससे बालक का दृष्टिकोण व्यापक एवं विशाल

बन सके। विद्यालयी पाठ्यक्रम के संदर्भ में उनकी अवधारणा निम्नवत् है—

- प्राच्य भाषाएँ।
- नैतिक शिक्षा।
- ब्रह्म संगीत का प्रारम्भ।
- विज्ञान (क्षेत्रीय भाषाओं का भी आश्रय लिया जाए)।
- प्रमुख विषय — व्याकरण, भूगोल, गणित, रेखा गणित, संस्कृत, दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीर विज्ञान धार्मिक शिक्षा।
- प्रार्थना सभाएँ।
- पाठ्य सहगामी क्रियाएँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राममोहन राय ने शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक तथा परम्परागत शिक्षण व्यवस्था के संयोजन की एक व्यवस्थित रूपरेखा हमारे सामने रखी। उन्होंने विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान द्वारा बालक के मस्तिष्क को प्रबुद्ध और उदारवादी बनाने के साथ नैतिक शिक्षा, ब्रह्म संगीत, तथा प्रार्थना सभा आदि के माध्यम से बालक को अनुशासित जीवन के लिए तैयार करने को प्रमुखता दी। वह इस बात के लिए भी सचेत दिखे कि अँग्रेजी भाषा के ज्ञान से ओतप्रोत बालक एक भारतीय भी बना रहे। हाँ उसमें इतनी सामर्थ्य अवश्य हो कि वह सामाजिक कुरीतियों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने को तत्पर न हो।

### शिक्षण पद्धति

शिक्षण पद्धति के संदर्भ में राजा राममोहन राय के विचारों का विस्तृत लेखा-जोखा हमें नहीं प्राप्त होता है। ब्रह्म समाज में उन्होंने जिन पद्धतियों का प्रयोग किया उनसे हम उनके शिक्षण पद्धति संबंधी विचारों को जान सकते हैं। उन्होंने 'ब्रह्म समाज'

एकेश्वरवादी समिति एवं स्वयं स्थापित शिक्षा संस्थाओं में व्याख्यान-विधि का सर्वाधिक प्रयोग किया था। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि भारत की विभिन्न सामाजिक कुरीतियों को लेकर भारतीयों के मन में एक संशय है। एक पक्ष उनके सकारात्मक पहलू को उद्घाटित करता है और द्वितीय उसके नकारात्मक पक्ष को। उनका मानना था कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था के प्रति यह संशय होगा ही। अतः हम वाद-विवाद के द्वारा विचारों का आदान-प्रदान कर दोनों पक्षों पर विचार कर उपयोगी नीति नियम का पालन करें। शिक्षण हेतु भी विविध सामाजिक विषयों में इस पद्धति का प्रयोग सफल हो सकता है।

1830 में जब ब्रह्म समाज का कार्यालय कलकत्ता के जोरासांको नामक स्थान पर स्थित नये भवन में लाया गया तो उसकी गतिविधियाँ अधिक व्यवस्थित रूप में हमारे आगे आयी। ब्रह्म समाज के अनेक कार्यक्रमों में उपदेश विधि का प्रयोग किया जाता था। वह इस विधि को विद्यालयों में भी प्रयुक्त करने के समर्थक थे। ब्रह्म समाज की सभाओं में गीत-संगीत को भी प्रमुखता दी गयी थी। स्वयं राजा राममोहन राय ने गीत-संगीत के इन कार्यक्रमों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए अनेक गीतों की रचना की थी। उनके बाद उनके कई गीतों को रवींद्रनाथ ठाकुर एवं सुकुमार राय आदि ने पूरा किया। आज भी परम पिता परमेश्वर की स्तुति के रूप में वे गीत प्रचलित हैं। अपने दैनिक जीवन में भी हम देखते हैं कि धार्मिक स्तुतियाँ व संगीत बड़े शान्त भाव से हमारे अंतर में उतरकर निःस्वार्थ, निश्छल भावनाओं को उत्प्रेरित कर, सुप्त आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रकाशित करती

हैं। राममोहन राय संगीत तथा प्रार्थना सभाओं का आश्रय लेकर इन्हीं भावों का सम्प्रेषण विद्यार्थी वर्ग तक कराना चाहते थे। उन्होंने ब्रह्म समाज की संस्थाओं में सत्य एवं ईश्वर का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यान विधि का भी प्रयोग किया था। सामाजिक व्यवस्थाओं की जड़ता को समाप्त किये जाने हेतु उन्होंने नवीन नीति-नियमों के संयोजन के प्रयोग किये जाने को स्वीकार किया था। जिससे हमें उनके विचारों में प्रयोग विधि की महत्ता को स्वीकृत किये जाने के संकेत मिलते हैं।

### शिक्षक तथा शिक्षार्थी

शिक्षक तथा शिक्षार्थी संबंधी राय के विचारों में भी आधुनिक तथा पारम्परिक प्रतिमानों की स्वीकृति देखने को मिलती है। यूँ तो शिक्षक के संबंध में उन्होंने कोई प्रथक विवेचनाएँ नहीं प्रस्तुत की किंतु ब्रह्म समाज व स्वयं के द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं में प्रायः उच्च नैतिक आदर्शों से युक्त, चरित्रवान, आध्यात्मिक तथा वैवाहिक व उदारवादी सोच के व्यक्तियों को प्रमुखता देते थे। वह खुद भी एक शिक्षक का कार्य ही हम सबके बीच कर रहे थे और आदर्श शिक्षक के इन गुणों से युक्त थे। वह शिक्षक को प्रगतिशील समाज के निर्माण का आधार मानते थे और विद्यार्थियों को इस कार्य में बड़ा ऊँचा स्थान देते थे। उनका मानना था कि परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर भारत को आजाद कराने का काम भारत का युवा विद्यार्थी वर्ग करेगा। हम देखते हैं कि भारत के स्वतंत्रता संग्राम में युवा छात्र संघ का बहुत बड़ा योगदान था।

यह ठीक है कि उन्होंने बाल केंद्रित शिक्षा की दुहाई नहीं दी किन्तु अपनी योजनाओं में

उन्होंने उन्हें विशेष दर्जा अवश्य दिया। वह विद्यार्थियों को प्राचीन परम्परावादी आदर्शों एवं मूल्यों तक ही सीमित न रखकर उनमें स्वतंत्र चिंतनशीलता, वैज्ञानिकता व उदारता से ओतप्रोत करना चाहते थे।

### विद्यालय

विद्यालय के संदर्भ में राममोहन राय के विचार-प्रयोजनवादी विचारों से प्रभावित हैं। उन्होंने विद्यालयों को एक ऐसी संस्था माना था जो कि सामाजिक जीवन की प्रयोगशाला, आधुनिक एवं प्राचीन ज्ञान का केंद्र तथा सामाजिक क्रांति के स्तम्भ हों। उनका विचार था कि विद्यालयों का वातावरण तथा शिक्षण-व्यवस्था इस प्रकार की हो जिससे बालकों को व्यवसायिक शिक्षा के साथ-साथ नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षा भी प्राप्त हो और उनमें सामाजिक अन्याय से जूझने की उपयुक्त भावना का विकास हो सके।

### भारत में शिक्षा का स्वरूप

आज हम सभी खुले मन से विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान की महत्ता की वकालत करते हैं। राममोहन राय ने यह उदारता वर्षों पूर्व दिखाई। शिक्षा और विज्ञान में उनकी गहरी रुचि थी। वे आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के समर्थक थे। अँग्रेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा को उन्होंने भारत के लिए लाभकारी बताया था। 1816-17 में उन्होंने कलकत्ता में एक अँग्रेजी स्कूल की स्थापना की और उनकी प्रेरणा से ही 1822-23 में हिंदू कॉलेज की स्थापना हुई। प्रारम्भ में उसका नाम महापाठशाला अथवा एंग्लो-इण्डियन कॉलेज था। वह संस्कृत भाषा की साहित्यिक बारीकियों और

सत्यान्वेषण की पद्धतियों को भलीभाँति समझते थे, फिर भी उनकी उत्कृष्ट अभिलाषा थी कि भारत में पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान का समावेश हो। अँग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी शिक्षा को भारत के लिए उपयोगी मानने के साथ-साथ भारतीय दर्शन और धर्म में निहित ज्ञान के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। वेदों तथा उपनिषदों का उनके द्वारा बँगला में किया गया अनुवाद वेदों के प्रति उनकी श्रद्धा का प्रतीक था। उनका मानना था कि अब भारतवर्ष के लिए पाश्चात्य शिक्षा और वैज्ञानिक ज्ञान से दूरी बनाए रखना उचित नहीं है। उन्होंने ईसाई मिशनरियों को शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में आगे आने को उचित माना और स्वयं लोगों के घर जाकर यह समझाने का प्रयत्न किया कि ईसाई विद्यालयों में पढ़ने से किसी की जाति भ्रष्ट नहीं होती और ना ही वह विधर्मी बन जाता है। वह लोगों से कहा करते थे-

*“मैंने स्वयं कई बार बाइबिल पढ़ी है, कुरान शरीफ भी पढ़ी है, परन्तु न तो मैं ईसाई बना हूँ, न मुसलमान। अनेक यूरोपीय लोग गीता एवं रामायण का अध्ययन करते हैं किन्तु वह हिंदू नहीं बन गए”।*

उनका मानना था कि हमें उदारतापूर्वक संसार की बेहतर चीजों को आत्मसात करना चाहिए।

परिवर्तनशीलता एक प्राकृतिक नियम है। प्रभात के प्रथम पहर के साथ उदित सूर्य संध्या होते-होते अस्त हो जाता है और चाँद के प्रकाश में पूरी धरती शीतल चाँदनी में ढक जाती है। आप कल्पना करें क्या सूर्य का तेज स्थाई

स्वरूप धारण कर पृथ्वी की गतिशीलता को बनाए रख सकेगा। नहीं! हमें इस बात को खुले मन से स्वीकार करना होगा कि सामाजिक नीति-नियम तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप गठित होते हैं। आगे चलकर परिवर्तित सामाजिक संरचना में, इसमें हेर-फेर करने, उसमें संशोधन करने में हिचक कैसी? किसी भी सामाजिक व्यवस्था का तेज समय बीतने के साथ नवीन परिस्थितियों में उग्र हो यदि झुलसाता प्रतीत हो तो उनमें आवश्यक परिवर्तन जरूर किये जाने चाहिए। राममोहन राय देश की शिक्षा व्यवस्था में इसी उदारता का समावेश चाहते थे। ज्ञान-विज्ञान के विस्तार व पुनर्जागरण से जिन सकारात्मक पक्षों का उद्भव हुआ है वह उनका समावेश भारत की शिक्षा व्यवस्था में करना उचित मानते थे। वह चाहते थे कि देश में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य हो। चूँकि देश का एक बड़ा वर्ग निर्धन तथा अशिक्षित है जो अपने बालकों की शिक्षा का शुल्क दे सकने में असमर्थ है। निरक्षर अभिभावकों का शिक्षा की महत्ता से अनभिज्ञ होना, उनके बालकों के लिए अभिशाप है। अतः देश की प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाकर देश के जन-जन तक शिक्षा का प्रचार-प्रसार सम्भव है।

लोकतंत्रीय सिद्धांतों को सामने रखते हुए जनसाधारण के लिए एँग्लो हिंदू विद्यालय में उन्होंने निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की थी। उनके पुत्र रामप्रसाद राय ने इसी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा के क्षेत्र में वंश, जाति, धर्म व समुदाय के आधार पर किये जाने वाले किसी भी भेदभाव को उन्होंने उचित नहीं माना था।

वे नारी शिक्षा के भी समर्थक थे। उन्होंने भारतीय समाज में स्त्रियों के प्रति व्याप्त अनेक कुरीतियों का विरोध किया था। उनके प्रयास से भारत में सती प्रथा का अन्त हो सका। वह जानते थे कि पुरातन व्यवस्थाओं को बदल कर नयी व्यवस्थाएँ लागू करने के क्रम में नवीन उपलब्धताएँ भी समयोजित करनी होंगी। स्त्रियों को विभिन्न कुरीतियों से पृथक करने के लिए उन्हें किसी अन्य सशक्त आश्रय की आवश्यकता तो थी ही। पुरातन व्यवस्था के तहत पुरुषों पर आश्रित नारी उसके बगैर जिस ताकत से खड़ी रह सकेगी उसके लिए राममोहन राय ने शिक्षा का सहारा लिया। लम्बी अवधि तक शिक्षा के अधिकार से वंचित स्त्री वर्ग के लिए यह निर्णय बड़ा ही क्रांतिकारी था। राय के उदारवादी मन ने प्रखर हो बड़ी दृढ़ता के साथ भारतीय महिलाओं के लिए बंजर भूमि में ऐसे बीज बो दिये थे जिसके वृक्ष फल-फूलकर आज हमारे सामने हैं। भारत देश उनकी इस दूरदृष्टि व आधुनिक सोच के लिए कृतज्ञ है।

अँग्रेजी शिक्षा के प्रति उनके लगाव, विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान को स्वीकृत किये जाने के प्रति उनकी दृढ़ता के सकारात्मक परिणाम भी आज हमारे सामने हैं। आज भारत देश सम्पूर्ण विश्व के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल सकने में समर्थ है निःसन्देह यह उनकी वर्तमान उदारवादी शिक्षा नीति का परिणाम है। हम देखते हैं, विश्व के वह देश जो परम्परावादिता को सर्वोपरि मानकर उसके आवरण को अपने आगे से हटाने में हिचकते रहे हैं, वह विकास की दौड़ में पीछे, बहुत पीछे हैं। भारतीय संस्कृति के

पुजारी तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रशंसक राममोहन राय ने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए भारतीय भाषा, साहित्य और दर्शन की शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया और दूसरी तरफ भौतिक उन्नति के लिए पाश्चात्य अँग्रेजी भाषा, अँग्रेजी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया। हमारी आज की शिक्षा व्यवस्था इसी मजबूत आधार पर खड़ी है जिसके सकारात्मक परिणाम हमें प्राप्त हो रहे हैं।

विश्व नागरिकता के प्रतिपादक और भ्रातृत्व व स्वतंत्रता के समर्थक राय ने शिक्षा द्वारा इन मूल्यों, के विकास को उचित कहा था।

वह पश्चिम की आधुनिक सभ्यता का बीजारोपण भारत में किये जाने के पक्ष में थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारत में वास्तविक तथा उपयोगी ज्ञान, विशेषकर विज्ञान तथा उद्योग में विज्ञान के प्रयोग पर आधारित सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की स्थापना में सहायता दी।

### शिक्षा का माध्यम

भारत में अँग्रेजी शासन व्यवस्था के बीच अँग्रेज सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किये जा रहे प्रयासों में 'शिक्षा का माध्यम' एक प्रधान मुद्दा था। भाषा, जो कि शिक्षा का आधार है जिसके द्वारा शिक्षा का प्रारम्भ होता है उसके लिए किसी प्रकार की दुविधा उचित ना थी। तत्कालीन परिस्थितियों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को देखते हुए राममोहन राय ने शिक्षा के माध्यम के लिए बड़ा ही उदारवादी दृष्टिकोण स्वीकृत किया। वह देश में वेदान्त की महत्ता को ज्यों का त्यों बनाएँ रखना चाहते थे, साथ ही देशवासियों को अँग्रेजी के द्वारा पाश्चात्य विद्याओं में पारंगत करना

चाहते थे यही कारण है कि वह देश की जनता में संस्कृत, अरबी, फारसी के प्रचार-प्रसार से ही संतुष्ट नहीं हुए वह इन सबके साथ अँग्रेजी भाषा के भी प्रबल समर्थक रहे।

11 दिसम्बर 1823 को उन्होंने शिक्षा के संबंध में लार्ड एमहर्स्ट को जो पत्र लिखा उसमें उन्होंने अपनी मंशा स्पष्ट की—

“यदि ब्रिटिश राष्ट्र को वास्तविक ज्ञान में वंचित रखने का इरादा रहा होता तो यूरोप के मध्ययुगीन धर्मशास्त्रियों की शिक्षा पद्धति के स्थान पर बेकन के दर्शन को प्रतिष्ठित न किया जाता क्योंकि मध्ययुगीन पद्धति, अज्ञान को चिरस्थाई रूप से कायम रखने का सर्वोत्तम साधन थी। इसी प्रकार यदि ब्रिटिश पार्लियामेंट की नीति भारत को अज्ञान के अंधकार में डाले रखने की हो तो उसके लिए संस्कृत शिक्षा प्रणाली सबसे अच्छी प्रणाली सिद्ध होगी। किन्तु सरकार का उद्देश्य देशी जनता की उन्नति करना है। इसलिए वह अधिक प्रबुद्ध तथा उदार शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहन देगी और गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन शास्त्र, शरीर रचना शास्त्र तथा अन्य लाभदायक विज्ञानों के पढ़ने की व्यवस्था करेगी।”<sup>5</sup>

यद्यपि अँग्रेजों के प्रति उनकी यह आशावादिता बहुत उचित न थी। इतिहास ने यह सिद्ध किया है कि अँग्रेजों ने भारत में जो नीतियाँ लागू की उनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन को सुचारू रूप से चलाना ही था। अँग्रेजों ने शिक्षा के प्रसार में जो योग दिया, वह भी उनकी प्रशासनिक आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए ही था। उन्होंने जो उद्योग लगाए या उद्योगों के विस्तार के लिए परिवहन और संचार था जो तंत्र स्थापित किया, वह सब यहाँ के प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों के दोहन के उद्देश्य से किया गया था। हाँ राममोहन राय की दूरदृष्टि इस सबके पीछे भारतीय जनता को अप्रत्यक्ष रूप से मिल सकने वाले लाभ को देख सकी थी। यही कारण है कि वह इन स्वार्थपूर्ण नीतियों का समर्थन करते रहे थे।

भाषा संबंधी उनके विचारों को विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि एक सबल विश्व स्वतरीय भाषा से भारतीय जनता को दूर रखना भी उन परिस्थितियों में बहुत उचित न था। यहीं राय ने मध्य मार्ग का अनुसरण करते हुए अँग्रेजी भाषा का समर्थन किया। उनका अन्तर्मन यह भलीभाँति जानता था कि भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से उदित भारत की अपनी भाषाओं की जड़े इतनी कमजोर नहीं हैं कि वे अपनी टहनियों पर किसी एक अन्य भाषा का बोझ ना उठा सकें। हम देखते हैं कि उनके इस समर्थन के सकारात्मक परिणाम ही हमें प्राप्त हुए हैं। भारत की अपनी सभी भाषाएँ, अपनी-अपनी जगह पर मजबूती से खड़ी हैं। उनका अस्तित्व उनकी महत्ता, उनके सम्प्रेषण का प्रभाव ज्यों का त्यों है। हाँ, अँग्रेजी भाषा ने इन सबके बीच अपनी छोटी-सी जगह अवश्य बना ली है और भारत की धरती पर एक ऐसा वर्ग मौजूद है जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय अन्तर्मन को अँग्रेजी भाषा में खोलकर रख देने की ताकत रखता है।

<sup>5</sup>दि इंग्लिश वर्क्स ऑफ राजा राममोहन राय, जिल्द III, उद्धृत-वर्मा वी. पी., आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतक, पूर्व संदर्भित, पृ. 23.

ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के विषय में राय के विचार किसी द्वेष, किसी हीनता से प्रेरित न थे। ये विचार उनकी दूरदर्शिता के प्रतीक थे। भारत के अनेक विद्वानों ने अँग्रेजी भाषा के ज्ञान द्वारा भारतीय दर्शन, उसके ऐतिहासिक ग्रंथों में छिपे गूढ़ रहस्यों को यूरोपीय समाज तक उनकी भाषा में पहुँचाकर भारत देश का मान ही बढ़ाया है। विवेकानंद की दिव्यवाणी शिकागो सम्मेलन में जो प्रभाव उत्पन्न कर सकी थी उसमें उनकी अँग्रेजी भाषा पर पकड़ की अपनी महत्ता थी। वह भारतीय अन्तर्मन को यूरोपीय जनता के बीच उनकी भाषा को खोल कर रख सके थे। ऐसे तमाम उदाहरण मौजूद हैं। भाषा संबंधी अपने विचारों के कारण तत्कालीन परिस्थितियों में राय कटु आलोचना का शिकार हुए थे। वास्तव में उस समय अँग्रेजी सरकार भारत में अपनी जड़े मजबूत करने के लिए तमाम ऐसे नीति-नियम भारतीयों पर लागू कर रही थी जिससे भारतीय जनमानस बड़ा आहत था। अतः देश के एक बड़े वर्ग में अँग्रेज व अँग्रेजियत के प्रति रोष था। यह वर्ग देश की धुंध भरी सामाजिक व्यवस्था के बीच भारतीयता के प्रश्न पर अधिक गम्भीर था और एक-एक कर उन्हें सहेजने समेटने में लगा था।

राय के शिक्षा के माध्यम संबंधी विचारों का हम यदि सूक्ष्म विश्लेषण करें तो देखेंगे कि इस महान आत्मा ने अपनी वाणी से अग्नि प्रज्वलित कर देश में दूधिया प्रकाश फैलाने का ही कार्य किया था। हमारी अपनी भाषाएँ ज्यों-की-त्यों देश में मौजूद थी देश से किसी भाषा के अस्तित्व को समाप्त करना आसान कार्य न था। सम्प्रेषण के माध्यम को औपचारिकता में बाँधना आसान नहीं

है वह अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट होगी ही। अब यदि समय की आवश्यकता के कारण किसी अन्य को भी अपने आसपास जगह देनी हो तो यह भाषा की समृद्धता का एक हिस्सा है। राय की दूरदृष्टि इस बात को देख सकी थी कि अँग्रेजी भाषा बड़ी तेजी से पूरे विश्व में अपनी पहचान बना रही है और आने वाले समय में अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर की कार्यविधियों का सबल माध्यम यही भाषा रहेगी। दिनकर ने राममोहन राय के इस मत के मध्य निहित मूल तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है—

*जब अँग्रेजी शासक इस दुविधा में पड़े हुए थे कि भारतीयों की शिक्षा अँग्रेजी में हो या संस्कृत और फारसी के द्वारा, तब राममोहन राय ने अँग्रेजी का पक्ष लिया। अदूरदर्शिता उनकी यह रही कि उन्होंने इस बात पर विचार ही नहीं किया कि शिक्षा का माध्यम हिंदी और बँगला जैसी आधुनिक भाषाएँ भी हो सकती थीं।*

जिन दिनों बँगाल में यह द्वन्द्व छिड़ा हुआ था कि शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी हो अथवा संस्कृत और फारसी, उन दिनों बम्बई में एल्फिस्टन और पश्चिमोत्तर प्रदेश में थॉमसन यह मानकर चल रहे थे कि भारतीय जनता की शिक्षा उसकी प्रचलित भाषाओं में ही होनी चाहिए, अँग्रेजी, संस्कृत, अरबी और फारसी में नहीं। किन्तु राजधानी उस समय कलकत्ता में थी। अतएव राजधानी में उठने वाला विवाद ही सारे देश का विवाद हो गया और निर्णय केवल अँग्रेजी और भारत की क्लासिक भाषाओं के

बीच सीमित कर दिया गया। ऐसी स्थिति में राममोहन राय केवल अँग्रेजी का ही पक्ष ले सकते थे और उसी का पक्ष उन्होंने लिया भी।<sup>6</sup>

हम देखते हैं राय द्वारा अँग्रेजी भाषा के समर्थन ने भारतीय समाज का हित ही किया है अहित नहीं।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट होता है कि राममोहन की सोच व दृष्टिकोण आधुनिक थी। वास्तव में वह पुनर्जागृत आत्मा के प्रतीक थे। जब से भारत में विदेशी विजेता आए तभी से यहाँ सांस्कृतिक समन्वय की समस्या थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना ने इस सांस्कृतिक संघर्ष को और उग्र कर दिया था। राममोहन राय ने अपने युग के गूढ़ नैतिक और आध्यात्मिक तत्वों को भलीभाँति समझा और पूर्वी भारत में व्याप्त अज्ञान, अंधविश्वास और सामाजिक सांस्कृतिक पतन के विरुद्ध संघर्ष किया। एकेश्वरवाद तथा समाज सुधार में समन्वय स्थापित कर उन्होंने देश के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। देश को आधुनिक दिशा देने के क्रम में परम्परागत तथा नवीनता का जो समन्वय वह चाहते थे उसके लिए शिक्षा को एक माध्यम के रूप में चुनने में उनमें कोई हिचक नहीं थी। उन्होंने शिक्षा के प्रचार-प्रसार व वैज्ञानिक ज्ञान को स्वीकृत किये जाने पर बड़ा जोर दिया था। वह स्वयं इस संदर्भ में जीवन भर प्रयत्नशील रहे। शिक्षा का विस्तार भी वह समाज के निम्न वर्गों में करना चाहते थे। परंपरावादी ब्राह्मणपरक व संस्कृतनिष्ठ शिक्षा के स्थान पर उन्होंने पश्चिमी शिक्षा प्रणाली का समर्थन किया था।

यद्यपि अँग्रेजों के प्रति उनकी यह अति आशावादिता उचित न थी। इतिहास इस बात का गवाह है कि अँग्रेजी प्रशासन के समस्त नीति-नियम उनके स्वयं के लाभ से प्रेरित थे। भारत में शिक्षा संबंधी उनकी व्यवस्थाओं में भी उनका स्वयं का स्वार्थ था। उन्हें अपना राज-काज यहाँ ठीक तरह से चलाने के लिए अँग्रेजी भाषा को समझने वाले कुछ व्यक्तियों की जरूरत थी। वह अँग्रेजी शिक्षा के प्रसार द्वारा अपनी इस जरूरत को पूरा करना चाहते थे। हाँ राय अपनी दूरदृष्टि से इन सबसे पीछे भारतीय जनता को मिल सकने वाले अप्रत्यक्ष लाभ को देख सके थे। यहाँ इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि राय के समाज सुधार कार्यों व विचारों के स्वतंत्रता संग्राम पर पड़ने वाले प्रभावों के लिए इतिहासकार एकमत नहीं हैं। डॉ. वर्मा उल्लेख करते हैं—

“राजा राममोहन राय ने बौद्धिक तथा सामाजिक मुक्ति के जिन आदर्शों को प्रतिपादित किया और लोकप्रिय बनाया उनके महत्त्व को हम स्वीकार करते हैं किन्तु हम राय के उन उत्साही प्रशंसकों से सहमत नहीं हैं जो उन्हें राजनीतिक स्वाधीनता का संदेशवाहक मानते हैं”<sup>7</sup>

शिक्षा संबंधी उनके विचारों में हमें उनकी इसी धारा की अवहेलना के कारण आज असहज स्थितियाँ भी देखने को मिलती हैं। विश्व बंधुत्व के उपासक राममोहन राय ने अपने उदारवादी दृष्टिकोण का जो विस्तार मनुष्य को दिया वही

<sup>6</sup>दिनकर, रामधारी सिंह (2000)-संस्कृति के चार अध्याय, पूर्व संदर्भित पृ. 458

<sup>7</sup>वर्मा, बी. पी. (2002) आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, पूर्व संदर्भित पृ. 18.



विस्तार व संभावनाओं की असीमितता उन्होंने भारतीय जनता के लिए भी स्वीकार की। राय के शिक्षा संबंधी विचारों को भलीभाँति समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों पर भी नजर डालनी होगी हम देखते हैं कि अँग्रेजी शासन काल के बीच की हमारी व्यवस्थाएँ सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल से भरी हुयी थीं। गरीबी व अशिक्षा में घिरी भारत की जनता ढेरों सामाजिक कुरीतियों की शिकार थी। धर्म के नाम पर अंधविश्वास से घिरी जनता को इन विषम परिस्थितियों से बाहर निकालने का कोई और मार्ग था क्या? यदि हष्ट-पुष्ट व्यक्ति किन्हीं कारणों से उन्मत्त हो अपनी बलशाली भुजाओं से अपनी ही गर्दन पकड़ बैठे और उस पकड़ से दम घुटने को हो तो क्या करना होगा? हमें करना यह होगा कि

किसी दूसरे के हाथ का आश्रय लेकर उस पकड़ को छुड़ाएँ और उसे खुली हवा में साँस लेने का मौका दे। राजा राममोहन राय ने भी यही किया। धार्मिक अंधविश्वासों व रूढ़ियों की जिस जकड़ से भारत देश का दम घुटने को था उसे शुद्ध वायु प्रदान करने हेतु उन्होंने अँग्रेजी शिक्षा का आश्रय लिए जाने का समर्थन किया। हमें ध्यान रखना होगा, आगे की ऊर्जा वे अपनी पहचान बनाए रखने में व्यय करना चाहते हैं। भारतीयता के आत्मसम्मान के साथ कोई भी समझौता करते वे नहीं दिखे, बल्कि ब्रह्म समाज के रूप में उन्होंने एक ऐसी संस्था हमें दी जिसका कार्य भारतीय संस्कृति व सभ्यता को सहेज रखना भी था। उनके समाज सुधार संबंधी कार्यों व आधुनिक शिक्षा के समर्थन के लिए सम्पूर्ण भारत देश सदैव ऋणी रहेगा।

# माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य संबंध का अध्ययन

प्रवीन देवगन\*

आत्मनियंत्रण बालक के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण पहलू है। आत्मनियंत्रण बालक के उस व्यवहार से संबंधित है जिसे वह किसी भी व्यक्ति की अनुपस्थिति या बाहरी वातावरण के बिना स्वयं निर्देशित करता है अर्थात् स्वाभाविक आवेश की अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने की क्षमता रखता है जिससे सही निर्णय लेने में सफल होता है। प्रस्तुत शोधपरक लेख में आत्मनियंत्रण के प्रमुख तीन आयाम—आत्मनियंत्रण के लिए योग्यता, आवेगशीलता, आत्मकेंद्रण को ही लिया गया है। इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य (क) विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण का अध्ययन, (ख) आत्मनियंत्रण के विभिन्न आयामों से संबंधित व्यवहारों का अध्ययन, एवं (ग) शैक्षिक उपलब्धि तथा आत्मनियंत्रण के मध्य संबंध का अध्ययन करना है। शोध के अंतर्गत चार विद्यालयों के नवीं कक्षा के 120 विद्यार्थियों को न्यादर्श में शामिल किया गया, प्रदत्त संकलन हेतु माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण मापनी का प्रयोग किया गया। शोध उपलब्धियों में उच्चस्तरीय आत्मनियंत्रण पाया गया तथा पाया गया कि आत्मनियंत्रण एवं उपलब्धि एक दूसरे से संबंधित है।

जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में प्रबुद्ध मानव ऐसे मूल्यों की खोज करता रहता है जो उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करें इसके लिए निरन्तर संस्कार संशोधित और सम्यक विकास की आवश्यकता होती है। बालक को समूह द्वारा मान्यताप्राप्त व्यवहार पद्धति को स्वीकार करने

एवं सही समय पर उपयुक्त निर्णय लेने में, आत्मनियंत्रण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आत्मनियंत्रण बालक के उन स्वतः प्रयासों को कहा जा सकता है जो वह अपने व्यवहार को पूर्व निर्धारित उद्देश्यों, मूल्यों एवं आदर्शों के अनुसार बनाने के लिए करता है। 12 से 14 वर्ष में

\*रीडर, शिक्षा संकाय, दयालबाग शिक्षण संस्थान, आगरा.

बालकों को भले-बुरे का ज्ञान एवं माता-पिता, गुरुजनों द्वारा स्वीकृत व्यवहार की पहचान होने लगती है और वे इसी के अनुकूल आचरण करते हैं। इस संबंध में एल्वर्ट वैण्डुरा (2002) ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं कि आत्मनियंत्रण संज्ञानात्मक कारकों से अधिक प्रभावित होता है। बालक स्वयं को अधिक धैर्य के साथ निर्देशित कर सकता है एवं आत्मनियंत्रण दिखा सकता है। आत्मनियंत्रण के तीन महत्वपूर्ण आयाम हैं।

(1) **आत्मनियमन के लिए योग्यता (Adequacy for Self Regulation)**—कार्य या लक्ष्य के प्रति बालक की रुचि अभिरुचि और प्रयास को नियंत्रित करने की क्षमता से है। इसमें बालक अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी बाह्य दबाव या निर्देशन की अनुपस्थिति में स्वयं को निर्देशित करता है। इसके अन्तर्गत बालक अपने व्यवहार को दूसरों की सहायता प्राप्त किये बिना नियंत्रित करने की क्षमता को विकसित करता है जो बालक आत्मनियमन के साथ जीवन व्यतीत करते हैं, वे जीवन में संघर्षों का सामना कर सकते हैं एवं उन्हें जटिल कार्यों का निष्पादन करने में सहायता मिलती है। जिम्मेरमेन (2003) के अनुसार जो बालक अपने जीवन का अधिकतर समय आत्मनियमन के साथ व्यतीत करते हैं वे अपने जीवन में संतुष्ट रहते हैं एवं अच्छी उपलब्धि प्राप्त करते हैं अपेक्षाकृत उनके जिन पर बाह्य कारक दबाव डालते हैं।

(2) **आवेगशीलता (Impulsivity)**—आवेगशीलता में बालक नकारात्मक परिणामों को ध्यान में रखे बिना तीव्र अनियोजित प्रतिक्रिया

करता है। वह अपनी प्रतिक्रिया के बुरे परिणामों के संदर्भ में नहीं सोचता है। वॉल्टर मिस्कल ने 1996 में पूर्व-विद्यालयी बालकों पर शोध किया और पाया कि बालक अपने आवेग एवं प्रलोभन पर कितना नियंत्रण कर पाते हैं तथा आगे के जीवन में सफलता से इसका क्या संबंध है। अध्ययन में पाया गया कि आत्मनियंत्रण वाले कुछ बालक किसी-न-किसी तकनीक का प्रयोग करके अपना ध्यान इच्छित क्रियाओं से हटा लेते थे। जैसे आँखों को ढकना, गाना गाना, सोने की कोशिश करना इत्यादि।

(3) **आत्मकेंद्रण (Self Centredness)**— बालक के चारों ओर जो कुछ भी है वह उसका केंद्र है जिसमें वह सिर्फ अपनी रुचि एवं अभिरुचि को महत्व देता है। आत्मकेंद्रण वह व्यक्तित्व गुण है जो बालकों में एक विशेष उम्र पर अधिक दिखाई पड़ता है। इसका प्रभाव सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों पर विशेष रूप से पड़ता है। जो बालक आत्मकेंद्रित होते हैं, इसका प्रभाव उनके साथ के साथियों के साथ उनके संबंध एवं शैक्षिक उपलब्धि पर भी पड़ता है। शैक्षिक उपलब्धि विद्यालयी क्रियाकलापों का एक महत्वपूर्ण प्रतिफल है। विद्यार्थियों का शैक्षिक व्यवहार उनकी उपलब्धि को दर्शाता है। वर्ग एंड प्रिंगल्स (1982) के कार्य के सिद्धांत के अनुसार बालक के कार्य प्रदर्शन की पहचान तीन कारकों द्वारा निर्धारित होती है— क्षमता C- (Capacity), इच्छानुकूलता W- (Willingness), सुअवसर O- (Opportunity) शैक्षिक उपलब्धि इन तीन

कारकों की पारस्परिक क्रिया को प्रतिबिंबित करती है।

### समस्या का औचित्य

माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के आँकड़े यह दर्शाते हैं कि इस स्तर पर विद्यार्थी अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पा रहे हैं। परीक्षा में असफलता जन्मजात योग्यता के आधार पर नहीं होती है, न ही बुद्धि की न्यूनता इसके लिए पूर्ण उत्तरदायी है। कभी-कभी यह भी देखा गया है कि अधिक तेजस्वी छात्रों की शैक्षिक प्रगति का स्तर गिर जाता है जबकि कुछ औसत छात्र अपने विद्यालय के कार्य को सुचारू रूप से करने में सफल हो जाते हैं।

आधुनिकता की भ्रामक अवधारणा, अस्तित्ववादी जीवन, अनात्मपरकता, नास्तिकता, पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण, अतीत में अविश्वास एवं स्वयं में अनास्था के कारकों से हमारे पुराने मूल्य प्रदर्शित होते जा रहे हैं। समाज में चारों ओर नैतिक मूल्य एवं आत्मनियंत्रण संबंधी स्तर गिर रहा है। बालक स्वयं के व्यवहार को नियंत्रित नहीं कर पा रहे हैं जिसके फलस्वरूप बालकों में क्रोध का आवेग (Tantrum), नियमों की अवहेलना, बुरी भाषा का प्रयोग, चोरी, बहस करना, आवेगशीलता, सामाजिक नियमों में प्रतिकूल व्यवहार अधिक दिखाई देते हैं। बालकों के नैतिक व सामाजिक मूल्यों में गिरावट का प्रभाव शिक्षा में भी देखने को मिलता है। स्वयं के व्यवहार पर नियंत्रण करने की बालकों की क्षमता में कमी का प्रभाव दीर्घकालीन होता है जो उसकी शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ता है क्योंकि वर्तमान युग प्रतिस्पर्धा का युग है जिसमें बालकों को प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा एवं तनाव पूर्ण

परिस्थिति का सामना करना पड़ता है इसमें सफलता हेतु आवश्यक है कि वह अपने व्यवहार को नियमों के अनुरूप संचालित करे। अतः विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं उससे संबंधित चरों का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

### शोध प्रक्रिया

#### 1. अध्ययन के उद्देश्य

- विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण का अध्ययन करना।
- विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण के विभिन्न आयामों से संबंधित व्यवहारों का अध्ययन करना।
- विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन करना।
- विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि एवं आत्मनियंत्रण के मध्य संबंध का अध्ययन करना।

#### 2. परिकल्पना

- विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण के विभिन्न स्तर में सार्थक अंतर पाया जाता है।
- विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण के विभिन्न आयामों से संबंधित व्यवहारों में सार्थक अंतर होता है।
- लिंग भेद के आधार पर विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि में सार्थक अंतर पाया जाता है।
- विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि में सार्थक संबंध होता है।

#### 3. शोध सीमांकन

- शोध को आगरा शहर के हिंदी माध्यम के सहशिक्षा वाले चार विद्यालयों तक सीमित रखा गया।
- नवीं कक्षा में शिक्षा प्राप्त कर रहे 120 विद्यार्थियों (60 छात्र एवं 60 छात्राओं) को ही अध्ययन में सामिल किया।

**अध्ययन की विधि**

शोध के लिए वर्णात्मक सर्वेक्षण विधि प्रयुक्त की गई।

**5. न्यादर्श चयन**

प्रस्तुत शोध में न्यादर्श चयन तीन चरणों में पूर्ण किया गया—

- (क) नगर महापालिका से आगरा शहर के हिंदी माध्यम के इंटरमीडिएट विद्यालयों की सूची प्राप्त कर सोद्देश्य न्यादर्श प्रविधि के आधार पर उन विद्यालयों का चयन किया गया जिनमें छात्र-छात्राओं को सहशिक्षा प्रदान की जाती है।
- (ख) सोद्देश्य पूर्ण आकस्मिक विधि द्वारा चार विद्यालयों को चयनित किया गया जिनमें से कुल 120 विद्यार्थियों का चयन किया गया।
- (ग) निश्चित क्रम विधि के आधार पर प्रत्येक विद्यालय से 30 विद्यार्थियों (15 छात्र + 15 छात्राओं) को चयनित किया गया।

**6. उपकरण चयन**

विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण अध्ययन करने के लिए सिन्हा एवं गुप्ता द्वारा निर्मित 'आत्मनियंत्रण मापनी' [(Self Control Scale) – (SCS),

का प्रयोग किया गया। विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि के मापन हेतु नवीं कक्षा में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों का आठवीं कक्षा की वार्षिक परीक्षा में प्राप्त कुल प्राप्तांक प्रतिशत को विद्यालय के अभिलेखों से संकलित किया गया। मापनी में आत्मनियंत्रण के तीन महत्वपूर्ण आयामों पर आधारित कुल 30 प्रश्न हैं। प्रश्न हाँ/नहीं श्रेणी में अंकित किए गए हैं।

**7. साँख्यिकीय प्रविधियाँ**

आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के संबंध में एकत्रित आँकड़ों के विश्लेषण हेतु मध्यमान, मध्याँक, बहुलॉक, प्रमाणिक विचलन, टी-मान परीक्षण एवं सहसंबंध गुणांक की गणना की गयी।

**शोधकार्य की उपलब्धियाँ एवं विवेचन**

**(1) विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण का अध्ययन**  
तालिका 1 के अन्तर्गत विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण मापन के आँकड़ों के आवृत्ति वितरण के आधार पर छात्रों तथा छात्राओं ने 18-23 के मध्य अधिक अँक प्राप्त किये हैं जिससे ज्ञात होता है कि माध्यमिक स्तर के अधिकतर विद्यार्थी स्वयं को अधिक नियंत्रित कर सकते हैं।

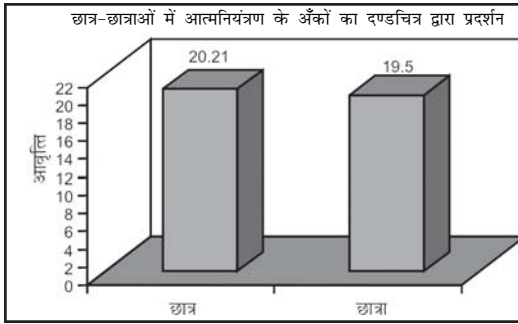
**तालिका 1**

**विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण का अध्ययन**

क्रम सँख्या	लिंगानुसार समूह Sex	सँख्या N	मध्यमान Mean	मध्याँक Med- ian	बहुलॉक Mode	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी-मान +Value	विश्वसनियता (0.05) (0.01)	विकृति Skew- ness	कुकदता Kurt- osis
1.	छात्र	60	20.21	21.05	22.73	2.9	0.25	असार्थक अंतर	0.86	1.701
2.	छात्रा	60	19.5	20.4	22.12	3.1			0.87	0.199
3.	कुल	120	19.8	20.75	22.65	3.0			0.93	0.3193

सार्थकता- 0.05 स्तर पर T का मान = 1.98

0.01 स्तर पर T का मान = 2.62



छात्राओं के वर्ग में मध्यमान व मध्याँक बहुलॉक छात्रों से कम हैं परन्तु यह अंतर बहुत कम है। छात्र एवं छात्राओं में भी मध्यमान और मध्याँक बहुलॉक से कम हैं। अतः यह वितरण ऋणात्मक रूप से विषम Negative Skewed है। सम्पूर्ण प्रतिदर्श में अँकों का भी विषम वितरण प्राप्त हुआ है। क्योंकि छात्र-छात्राओं एवं कुल विद्यार्थियों के अँकों की रेखा का झुकाव तथा संकरापन (Narrowness) आवृत्ति बहुभुज के बायीं ओर है। कुकदता के अध्ययन के

आधार पर छात्रों में चर्पट कुकदता (platykurtic) एवं छात्राओं में तुंग कुकदता (leptokurtic) दिखाई देती है।

छात्रों में अँकों का मध्यमान (20.21) छात्राओं से अधिक है (19.5), दोनों के अँकों में भिन्नता है, जिससे छात्रों में छात्राओं की अपेक्षा अधिक आत्मनियंत्रण दिखाई देता है परन्तु विद्यार्थियों द्वारा प्राप्त अँकों के टी-मान के आधार पर छात्र-छात्राओं के अँकों में कोई सार्थक भिन्नता नहीं पाई गई। अतः दोनों ही समूह (छात्र एवं छात्राएँ) स्वयं पर नियंत्रण करने में समान रूप से सक्षम हैं।

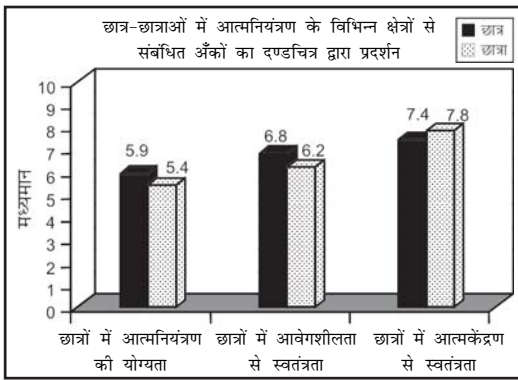
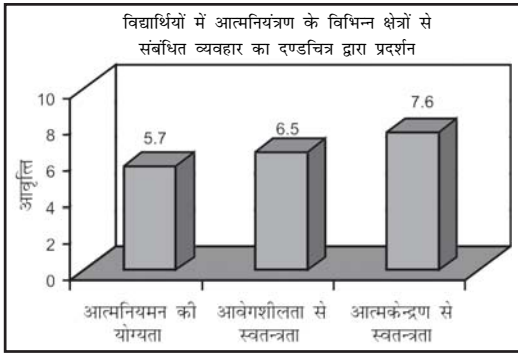
(2) विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण के विभिन्न आयामों से संबंधित व्यवहारों का अध्ययन तालिका 2 के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विद्यार्थियों में आत्मनियमन की योग्यता का मध्यमान (5.70) आवेगशीलता से स्वतंत्रता (6.52) की अपेक्षा कम है। विद्यार्थियों में आत्मकेंद्रण स्वतंत्रता

तालिका 2

विद्यार्थियों के आत्मनियंत्रण के विभिन्न आयामों से संबंधित व्यवहार का अध्ययन

क्रम संख्या	आत्मनियंत्रण के क्षेत्र	लिंग Sex	सँख्या N	मध्यमान Mean	मानक विचलन S.D.	क्षेत्रानुसार टी-मान + Value	विश्वसनियता स्तर (0.05)	विश्वसनियता स्तर (0.01)
1.	आत्मनियंत्रण की योग्यता	छात्र	60	5.98	1.4	0.001	असार्थक अंतर	असार्थक अंतर
		छात्रा	60	5.43	1.3			
		कुल	120	5.70	1.41			
2.	आवेगशीलता से स्वतंत्रता	छात्र	60	6.8	2.2	0.06	असार्थक अंतर	असार्थक अंतर
		छात्रा	60	6.2	1.5			
		कुल	120	6.52	1.94			
3.	आत्मकेंद्रण से स्वतंत्रता	छात्र	60	7.4	1.4	0.014	असार्थक अंतर	असार्थक अंतर
		छात्रा	60	7.8	1.5			
		कुल	120	7.65	1.5			
तीनों क्षेत्रों के कुल का टी मान						2.63	सार्थक अंतर	सार्थक अंतर

सार्थकता-0.05 स्तर पर T का मान = 1.98 तथा 0.01 स्तर पर T का मान = 2.62



का मध्यमान (7.65) दोनों आयामों से और भी अधिक है इससे प्रतीत होता है कि विद्यार्थियों का यह समूह स्वार्थी नहीं है। ये केवल अपने लिए ही नहीं सोचते बल्कि दूसरों को भी महत्त्व देते हैं तथा मित्रों की सहायता करना पसन्द करते हैं। इनमें ईर्ष्या का भी अभाव पाया गया। आत्मनियंत्रण से

संबंधित तीनों आयामों में छात्रों में आत्मनियमन की योग्यता व आवेगशीलता स्वतंत्रता का मध्यमान क्रमशः (5.98, 6.8) है एवं छात्राओं में (5.43, 6.2) है जो छात्रों में छात्राओं से अधिक आत्मनियंत्रण के अंतर को व्यक्त कर रहा है। अँकों के मध्य अंतर ज्ञात करने के लिए दोनों क्षेत्रों में टी-मान (0.01, 0.06) की गणना की गई जो 0.01 एवं 0.05 विश्वसनीयता के स्तर के मान 2.62 एवं 1.98 से कम है। जो स्पष्ट करता है कि छात्र एवं छात्राओं में आत्मनियमन की योग्यता एवं आवेगशीलता से स्वतंत्रता के मध्य अंतर नहीं है परन्तु आत्मकेंद्रण से स्वतंत्रता संबंधी क्षेत्रों में छात्राओं का मध्यमान (7.8) छात्रों से (7.4) अधिक है जिससे छात्राओं में छात्रों से अधिक आत्मकेंद्रण की स्वतंत्रता प्रदर्शित होती है। छात्र-छात्राओं के मध्य अंतर के टी-मान (0.014) की गणना 0.01 एवं 0.05 विश्वसनीयता के स्तर पर अंतर को स्पष्ट नहीं करती। तीनों आयामों के कुल योग अर्थात आत्मनियंत्रण का छात्र एवं छात्राओं के मध्य अंतर को ज्ञात करने के लिए टी-मान 2.63 प्राप्त किया जो स्पष्ट करता है। दोनों में ही आत्मनियंत्रण समान नहीं है, परन्तु छात्र-छात्राओं का विभिन्न क्षेत्रों में आत्मनियंत्रण समान है।

**तालिका 3**

**विद्यार्थियों के शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन**

क्रम संख्या	लिंगानुसार समूह	संख्या N	मध्यमान Mean	मध्याँक Median	बहुलॉक Mode	प्रमाणिक विचलन S.D.	टी-मान t-Value	विश्वसनीयता (0.05) (0.01)	विकृति Skewness	कुकदता Kurtosis
1.	छात्र	60	65.94	64.98	63.06	11.59	0.029	असार्थक अंतर	0.2484	0.239
2.	छात्रा	60	63.28	64.6	67.27	21.1			0.327	0.263
3.	कुल	120	64.61	64.93	65.57	11.9			0.080	0.256

सार्थकता -0.05 स्तर पर T का मान = 1.98 तथा 0.01 स्तर पर T का मान = 2.62

### (3) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन

तालिका 3 से स्पष्ट होता है कि छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर प्राप्त में मध्यमान मध्याँक (65.94, 64.98) छात्राओं की अपेक्षा (63.28, 64.6) अधिक है। अतः छात्रों में मध्यमान और मध्याँक, बहुलॉक से भी अधिक पाया गया। यह धनात्मक रूप से विषम (Positive Skewed) वितरण है। अर्थात् कुछ ही छात्रों ने अधिकतम (60.79%) अँक प्राप्त किये हैं जो उनकी उच्च शैक्षिक उपलब्धि को दर्शाते हैं लेकिन छात्राओं में मध्यमान और मध्याँक बहुलॉक से कम है। अतः यह ऋणात्मक रूप से विषम (Negative Skewed) वितरण है। अधिकतर छात्राओं ने कम अँक प्राप्त किये हैं। इसी प्रकार कुल विद्यार्थियों में भी मध्यमान और मध्याँक बहुलॉक से कम होने के कारण यह वितरण भी ऋणात्मक रूप से विषम है।

लिंग भेद के आधार पर विद्यार्थियों में शैक्षिक उपलब्धि का अध्ययन छात्र एवं छात्राओं के मध्य शैक्षिक उपलब्धि के अंतर को स्पष्ट करता है। परन्तु छात्र-छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य टी-मान के आधार पर जिसका मूल्य 0.029 प्राप्त हुआ, टी-मान 0.05 एवं 0.01 विश्वसनीयता के स्तर पर असार्थक होने के कारण छात्र-छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्य कोई अंतर को व्यक्त नहीं करता।

### (4) विद्यार्थियों में शैक्षिक उपलब्धि एवं

#### आत्मनियंत्रण के मध्य संबंध का अध्ययन

तालिका 4 से स्पष्ट होता है कि विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य (+0.11) धनात्मक सहसंबंध है जो विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सार्थक संबंध को व्यक्त करता है। अतः विद्यार्थियों का आत्मनियंत्रण उनकी शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करता है।

### तालिका 4

#### विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य सहसंबंध का अध्ययन

सहसंबंध समूह	लिंग	सँख्या	सहसंबंध	टी-मान	विश्वसनीयता स्तर t-value	विश्वसनीयता स्तर (0.05)(0.01)
आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि	छात्र	60	-0.113	0.866	सार्थक अंतर	सार्थक अंतर
	छात्रा	60	+0.30	2.394	सार्थक अंतर	सार्थक अंतर
	कुल	120	+0.11	2.130	सार्थक अंतर	सार्थक अंतर

सार्थकता-0.05 स्तर पर T का मान = 1.98 तथा 0.01 स्तर पर T का मान = 2.62

लिंग भेद के आधार पर छात्रों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य (-0.113) ऋणात्मक सह संबंध है। अतः छात्रों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य कोई संबंध नहीं है अर्थात् छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि आत्मनियंत्रण से प्रभावित नहीं होती है।

छात्राओं में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य (+0.30) धनात्मक संबंध पाया गया जो छात्राओं में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के आपसी संबंध को बताता है अर्थात् छात्राओं का आत्मनियंत्रण उनकी शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करता है।



## निष्कर्ष

शोध उपलब्धियों के आधार पर स्पष्ट है कि छात्र-छात्राओं में समान रूप से उच्च स्तरीय आत्मनियंत्रण पाया गया। उनके मध्य कोई सार्थक अंतर नहीं प्राप्त हुआ। इस तथ्य के विरोध में रेड्डी एण्ड चार्ल्स (1985) ने पाया कि आयु, लिंग, स्मृति शक्ति एवं प्रतिकार का प्रभाव विलम्ब क्षमता पर पड़ता है। अध्ययन के परिणामों में इसलिए भिन्नता है कि वर्तमान शोध में आत्मनियंत्रण के तीन पहलुओं का अध्ययन किया गया जबकि रेड्डी के अध्ययन में केवल विलम्ब संतुष्टि का अध्ययन किया गया था एवं वर्तमान परिस्थितियाँ भी पूर्व की परिस्थितियों से भिन्न हैं।

इस शोध में प्रकाशवती नय्यर (1993) के अध्ययन से वर्तमान शोध के परिणाम की पुष्टि होती है कि आत्मनियंत्रण एवं आत्मकेंद्रण एक दूसरे से संबंधित हैं।

इस अध्ययन में विद्यार्थियों में समान एवं उच्च शैक्षिक उपलब्धि पाई गई जो वर्तमान में बदली परिस्थितियों के कारण हो सकती है। क्योंकि आज छात्र एवं छात्राओं दोनों को परिवार में शिक्षा के लिए बराबर अवसर दिए जाते हैं।

छात्रों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य कोई संबंध प्राप्त नहीं हुआ जबकि छात्राओं में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य संबंध पाया गया।

लाजवन्ती (1998) के शोध अध्ययन में छात्रों के मध्य विलम्ब संतुष्टि से शैक्षिक उपलब्धि उच्च देखी गयी जिससे ज्ञात होता है कि विलम्ब संतुष्टि छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित नहीं करती है। सत्संगी आर. के. (1993) ने पाया कि टास्क परसिस्टेन्स और लोकस ऑफ कंट्रोल विद्यार्थियों

की शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करता है जबकि विलम्ब संतुष्टि छात्रों की अपेक्षा छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि को अधिक प्रभावित करती है। सम्पूर्ण प्रतिदर्श में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि के मध्य धनात्मक संबंध पाया गया अर्थात् आत्मनियंत्रण के घटने-बढ़ने के साथ शैक्षिक उपलब्धि भी घटती बढ़ती है। दोनों चरों के मध्य सार्थक संबंध था।

विद्यालयी बालकों में आत्मनियंत्रण के विकास का अध्ययन मिस्कल (1960) ने वाईगोट्सकी के सिद्धांत के संदर्भ में किया। इसके परिणाम स्वरूप आत्मनियमन का स्तर आयु एवं शैक्षिक उपलब्धि दोनों पर निर्भर करता है। जिन विद्यार्थियों की उच्च शैक्षिक उपलब्धि थी उनमें आत्मनियंत्रण की योग्यता भी उच्च थी। मेसर (1972) ने भी अपने शोध परिणाम में पाया कि जिन विद्यार्थियों में आंतरिक नियंत्रण था उन्होंने बाह्य नियंत्रण रखने वाले विद्यार्थियों की अपेक्षा उच्च शैक्षिक उपलब्धि प्राप्त की। बाट्स ब्रेन (2006) ने शोध के आधार पर बताया कि सक्रिय आत्मनियमन गतिशील आत्मनियंत्रण गरिमा के अँकों से आपस में संबंधित है। अतः पूर्व के अध्ययन भी पुष्टि करते हैं कि आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि एक दूसरे से संबंधित हैं। दोनों चर एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

## अध्ययन की उपयोगिता

वर्तमान अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण एवं शैक्षिक उपलब्धि दोनों चर आपस में सार्थक रूप से संबंधित हैं। अतः आरम्भ से ही विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण को विकसित करने के प्रयास किये

जाने चाहिए। अध्ययन के परिणाम की उपयोगिता निम्न के लिए सार्थक होगी—

### 1. शैक्षिक प्रशासन के लिए

विद्यार्थियों में माध्यमिक स्तर पर असफलता एवं निम्न उपलब्धि की समस्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। वर्तमान शोध अध्ययन द्वारा प्राप्त परिणामों का उपयोग असफल एवं निम्न उपलब्धि प्राप्त विद्यार्थियों के लिए निर्देशन कार्यक्रम बनाने में उपयोगी सिद्ध होगा। विद्यालय में विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रदान करके ऐसा वातावरण बनाया जाए कि विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि में वृद्धि हो सके।

### 2. शिक्षकों के लिए

वह शिक्षक ही है जो उचित निर्देशन के द्वारा विद्यार्थियों की अभिवृत्ति एवं व्यवहार को अनुकूलता के साँचे में ढालता है। आत्मनियंत्रण व्यक्तित्व कारक है जिसका प्रभाव विद्यार्थियों की अभिवृत्ति और व्यवहार दोनों पर पड़ता है इसलिए शिक्षक को चाहिए कि बच्चों के प्रति कठोर व्यवहार दिखाने की अपेक्षा व्यवहार के कारणों को जानने का प्रयास करें। कक्षा का वातावरण ऐसा बनाएँ जिससे विद्यार्थियों में आत्मनियंत्रण उत्पन्न हो सके। योजनाबद्ध एवं क्रमबद्ध शिक्षण प्रक्रिया अपनाई जाए जिससे विद्यार्थी प्रत्येक कार्य को नियमों के अनुसार करना सीखें।

### 3. अभिभावकों के लिए

विद्यार्थियों को यदि परिवार में प्यार तथा उचित प्रजातांत्रिक वातावरण मिले तो उनमें स्वयं ही आत्मनियंत्रण विकसित हो सकता है। कभी-कभी अभिभावक बहुत रूढ़िवादी, परम्परावादी एवं पूरी

तरह बाह्य नियंत्रण दिखाते हैं। वे भाग्य एवं अन्य बाह्य करकों को सफलता के लिए अधिक उत्तरदायी समझते हैं। इसका समान प्रभाव उनके बच्चों पर भी पड़ता है। वर्तमान शोध की उपलब्धियों के आधार पर अभिभावक इस अभिवृत्ति को बदल सकते हैं एवं उन्हें सुझाव दे सकते हैं कि शैक्षिक उपलब्धि के लिए आत्मनियंत्रण महत्वपूर्ण कारक है। विलम्ब पुरस्कार के लिए आन्तरिक तथा बाह्य सहनशीलता एवं विभिन्न परिस्थितियों में स्वयं पर नियंत्रण रखना ऐसी विशेषताएँ हैं जो पालन-पोषण एवं अभिभावकों की अभिवृत्ति से प्रभावित होते हैं। यदि बालकों का परिवार में प्रजातांत्रिक विधि से मार्गदर्शन दिया जाए तो वे आत्मनियंत्रण करना अधिक अच्छी प्रकार सीख सकते हैं। उन बालकों की अपेक्षा जिनका पालन-पोषण प्रभुत्वशाली वातावरण में हुआ है। अतः अभिभावक बालकों को परिवार में प्रजातांत्रिक वातावरण दें जिसके द्वारा उनमें आत्मनियंत्रण विकसित हो सके।

### 4. विद्यार्थियों के लिए

आत्मनियंत्रण द्वारा विद्यार्थियों को आवेगशीलता से स्वतंत्रता प्राप्त होती है जो उन्हें विभिन्न परिस्थितियों में उचित निर्णय लेने में सहायता करती है। आत्मनियंत्रण द्वारा विद्यार्थियों को आत्मकेंद्रण से भी स्वतंत्रता प्राप्त होती है जिसके द्वारा वे स्वार्थी बनने से बच सकते हैं। आत्मनियंत्रण के द्वारा विद्यार्थी अपने दीर्घकालिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्रमबद्ध योजना बनाकर विभिन्न परिस्थितियों में स्वयं का मूल्यांकन भी करने में समर्थ हो सकेंगे क्योंकि वर्तमान में प्रतिस्पर्धा एवं तनावपूर्ण परिस्थिति का सफलतापूर्वक सामना करने हेतु आवश्यक है कि वे अपने व्यवहार को नियमों के अनुरूप संचालित करें।

**5. निर्देशनकर्ता एवं परामर्शदाताओं के लिए** लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नये कार्यक्रम एवं निर्देशनकर्ता एवं परामर्शदाताओं के लिए भी वर्तमान योजनाएँ बनाई जा सकती हैं। आंतरिक नियंत्रण में शोध की उपलब्धियाँ सहायक हो सकती हैं। वे व्यवहार परिवर्तन विशेष परामर्श द्वारा विकसित समझ सकते हैं कि आत्मनियंत्रण भी शैक्षिक किया जा सकता है। बालकों में आत्मनियंत्रण उपलब्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। निर्देशनकर्ता विकसित करने के लिए अभिभावकों को भी निम्न शैक्षिक उपलब्धि एवं असफलता से ग्रसित निर्देशन दिया जा सकता है कि वे परिवार का विद्यार्थियों को सफलता दिलाने के लिए उचित वातावरण ऐसा बनाएँ जिसके द्वारा बालकों में निर्देशन दे सकते हैं। विद्यार्थियों के दीर्घकालिक आत्मनियंत्रण विकसित हो सके।

### संदर्भ

- कपिल, एच. के. 2004. 'अनुसंधान की विधियाँ' एच. वी. भार्गव बुक हाउस, 147-148
- जफरी, लेन और सरगल 2006. *अंडरस्टैंडिंग एडोलसेंट अकेडमिक सेल्फ रेग्युलेटरी फोकस एण्ड पोसिबल सेल्ब्स*, डिस्सरटेशन एब्सट्रेक्ट इंटरनेशनल, 67 (07) 2466, जनवरी 2007
- नय्यर, प्रकाशवती 1993. 'क्राउडिंग स्ट्रेस एण्ड एंवायरमेंटल परसेप्शन ऑफ द एल्डरली द रोल ऑफ सेल्फ कंट्रोल एण्ड सोशल सपोर्ट' पीएच.डी. थीसिस (50-60), दयालबाग, आगरा
- फिन्केनायर, कार्टिन 2005. *पेरेंटिंग बिहेवियर एण्ड एडोलोसेंट बिहेवियर एण्ड इमोशनल प्रोब्लम — द रोल ऑफ सेल्फ कंट्रोल*, डिजरटेशन एब्सट्रेक्ट एजुकेशनल साइक्लोजी, 92 (4) 1268, अप्रैल 2005
- फ्रेडरिक, एच केंफेर 1981. *सेल्फ कंट्रोल एंड आल्ट्रिज्म — डिले ऑफ ग्रेटिफिकेशन फॉर अनेडर*, डिस्सरटेशन एब्सट्रेक्ट चाल्ड डबलपमेंट, 52 (1-2) 774
- बास, बी.ए. ओलेडिक 1974. *स्टडी हैबिट इज ए फैक्टर इन द लोकस ऑफ कंट्रोल एण्ड अकेडमिक अचीवमेंट रिलेशनशिप*, सायकलोजिकल रिपोर्ट, 34 (3+1) 906
- बाट्स, जेम्स ब्रेन 2006. 'द रिलेशनशिप अमंग सोर्स ऑफ सेल्फ रेग्युलेशन डिसपेसिशन टुवर्ड मैथमैटिक्स एण्ड मैथमैटिक्स अचीवमेंट इन कम्युनिटी कालेज स्टूडेंट' डिस्सरटेशन एब्सट्रेक्ट इंटरनेशनल, 67 (07), 2502, जनवरी 2007
- ब्रेन, ई. बॉन कलेयर 1984. *द इमरजेन्स एंड कंसोलिडेशन ऑफ सेल्फ कंट्रोल*, डिस्सरटेशन एब्सट्रेक्ट चाइल्ड डवलपमेंट, 55 (2-3) 990
- रेड्डी, एण्ड चार्ल्स 1985. 'डिले ऑफ ग्रेटिफिकेशन एण्ड स्कूल आचीवमेंट इन लो सोसो इकनोमिक स्टेटस माइनोरिटी सैकेंड एण्ड थर्ड ग्रेड चिल्ड्रन्स' डिजरटेशन एब्सट्रेक्ट इंटरनेशनल, 47 (1) डी.ए. 8605632
- लाजवती 1998. *इफेक्ट एण्ड अफेक्ट इंडक्शन एड एण्ड रोल इन्वोल्वमेंट ऑन डिले ऑफ ग्रेटिफिकेशन इन चिल्ड्रन्स*, डिस्सरटेशन, 22-26
- सत्संगी, रंजीत 1993. "लोकस ऑफ कंट्रोल डिले ऑफ ग्रेटिफिकेशन, रिस्क टेकिंग बिहेवियर एण्ड टास्क परसिस्टेन्स एज प्रिडिक्टर्स ऑफ अकेडमिक अचीवमेंट एट हाईअर सैकेंडरी स्टेज" पीएच.डी. थीसिस, दयालबाग, आगरा
- हार्टमैन, जफेरी 2005. *एन इन्वेस्टिगेशन ऑफ लर्निंग एडवान्टेजिस विद सेल्फ कंट्रोल — थिओरिटिकल एक्सप्लेनेशन एण्ड प्रैक्टिकल एप्लीकेशन*, डिस्सरटेशन एब्सट्रेक्ट इंटरनेशनल, 66 (05), 2116, नवंबर 2005

# दूरस्थ प्रणाली के माध्यम से 'उच्च शिक्षा'

## ऐतिहासिक लेखा-जोखा

उमेश चंद्र अग्रवाल\*

दूरस्थ शिक्षा के क्षेत्र में संचार तथा सूचना प्रौद्योगिकी के कारण क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। दूरस्थ शिक्षा का आरम्भ पत्राचार शिक्षा से हुआ जो मुद्रित सामग्री पर निर्भर था। संशोधित होते-होते इसने मुक्त शिक्षा का रूप ग्रहण किया और वर्तमान में सूचना प्रौद्योगिकी के उपयोग के कारण ये ऑनलाइन एजुकेशन के नाम से भी जानी जाने लगी है। विभिन्न देशों में विभिन्न नामों से जानी जाने वाली यह शिक्षण पद्धति वर्तमान में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पहचान बना रही है। प्रस्तुत लेख में भारत में इसके विकास एवं उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में इसके महत्त्व की चर्चा की गई है।

देश में शिक्षित बेरोजगारी के आँकड़ों में भले ही 'दिन दूनी और रात चार गुनी' अभिवृद्धि हो रही है लेकिन प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय शिक्षा तक और व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं से लेकर उच्च स्तरीय तकनीकी शिक्षण संस्थानों तक में प्रत्येक स्तर पर शिक्षकों और अनुदेशकों की कमी आज शैक्षिक और राजनैतिक क्षेत्रों में चर्चा का विषय बनी हुई है। व्यापक तौर पर इस कमी के लिए यों तो कई कारण उत्तरदायी हैं लेकिन देश में समुचित मात्रा में योग्य और प्रशिक्षित शिक्षकों की उपलब्धता नहीं होने से भी

इंकार नहीं किया जा सकता है। ऐसा इसलिए भी है कि पिछले दो दशकों में जिस रफ्तार से विभिन्न स्तरों पर सरकारी और निजी क्षेत्रों की शिक्षण संस्थाओं में बढ़ोत्तरी हुई है, उस अनुपात में शिक्षक-शिक्षा अथवा शिक्षक-प्रशिक्षण की सुविधाओं का विस्तार नहीं हो सका है। विशेष रूप से स्कूली शिक्षा के विस्तार और गुणवत्ता विकास के लिए संचालित किए गए विशिष्ट कार्यक्रमों और निर्धारित विशेष प्रावधानों जैसे 'निःशुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा अधिकार-2009' का पारण, 'माध्यमिक शिक्षा

\*संयुक्त निदेशक, प्रशिक्षण प्रभाग, राज्य नियोजन संस्थान, लखनऊ, उत्तर देश।

भियान-2008 तथा सर्वशिक्षा अभियान-2000 का संचालन, मध्याह्न भोजन कार्यक्रम-1995', त्वरित महिला साक्षरता कार्यक्रम 2006, 'राष्ट्रीय बालिका शिक्षा कार्यक्रम-2004', का संचालन और उनके अंतर्गत स्थापित विशिष्ट विद्यालयों जैसे—'जवाहर नवोदय विद्यालय-1985', 'कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय-2004', 'विशेष आवासीय बालिका विद्यालय-2006', 'विशेष मॉडल स्कूल-2008' आदि के समुचित प्रकार से क्रियान्वयन के लिए भी नए शिक्षकों की आवश्यकता बढ़ी है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक समुचित अवधि के लिए नए शिक्षकों की आवश्यकता का आंकलन करके उन्हें प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए विशेष व्यवस्थाएँ किया जाना बहुत जरूरी हो गया है। विभिन्न अन्तर्निहित कारणों से पारम्परिक—औपचारिक शिक्षण प्रशिक्षण संस्थानों से पर्याप्त मात्रा में इनकी आपूर्ति सुनिश्चित भी नहीं हो पा रही है। इस दिशा में 'दूरस्थ शिक्षा' एक वैकल्पिक प्रशिक्षण माध्यम के रूप में एक बड़ा सहारा बन सकती है।

वर्तमान में दूरस्थ शिक्षा के क्षेत्र में भी संचार तथा सूचना प्रौद्योगिकी के अनुकूलतम उपयोग ने विशेष रूप से उच्च शिक्षा के लिए इसकी व्यावहारिकता तथा स्वीकार्यता को चार चाँद लगाए हैं। निश्चित रूप से दूरस्थ शिक्षा पद्धति के विकास का प्रमुख आधार स्तम्भ 'आधुनिक संचार माध्यम' है। वर्तमान समय में दूरस्थ शिक्षा सही मायनों में मल्टीमीडिया माध्यमों पर आधारित हो गई है। यह शिक्षा व्यवस्था, मुद्रित माध्यमों, रेडियो, दूरदर्शन, ऑडियो, वीडियो आदि संचार माध्यमों तथा मल्टीमीडिया जैसे सभी माध्यमों का संयुक्त रूप

से प्रयोग कर विद्यार्थी को मानसिक रूप से जोड़कर सीखने की प्रणाली को सुचारु रूप से चलाने की व्यवस्था है। इस शिक्षण व्यवस्था में विद्यार्थियों को कठोर, औपचारिक नियमों और समय-सीमा में नहीं बाँधा जाता और साथ-ही-साथ समूह में सीखने के स्थान पर व्यक्तिगत रूप से सीखने पर अधिक बल दिया जाता है। इसमें शिक्षण माध्यमों या हार्डवेयर का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि प्रयुक्त होने वाली शिक्षण सामग्री या सॉफ्टवेयर की गुणवत्ता उनका स्पष्ट और सुग्राह्य प्रस्तुतीकरण तथा विषयवस्तु की उपयोगिता आदि का है। सरकार द्वारा दूरस्थ शिक्षा पाठ्यक्रमों व प्रमाण-पत्रों को सवैधानिक व कानूनी रूप से मान्य किए जाने तथा कम लागत मूल्य आने के फलस्वरूप भी इनकी लोकप्रियता दिनोदिन बढ़ रही है। वैसे भी दूरस्थ शिक्षा आज एक लम्बा सफर तय कर चुकी है। वर्तमान में संचार माध्यमों और तकनीकी उपकरणों की बढ़ती सुविधाओं को समाहित रखते हुए आज यह शैक्षिक प्रणाली का एक अभिन्न अंग ही नहीं बल्कि, एक स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में स्थापित हो गई है। वास्तव में यह एकमात्र ऐसी शैक्षिक व्यवस्था है जो 21वीं शताब्दी की शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में समर्थ है। कुछ वर्ष पहले तक दूरस्थ शिक्षा, औपचारिक शिक्षा की 'सहवर्ती या पूरक शिक्षा व्यवस्था' मानी जाती रही है लेकिन 21वीं सदी के पदार्पण के साथ ही दूरस्थ शिक्षा अपनी अन्तर्निहित गुणवत्ता के कारण ही वर्तमान परिदृश्य में काफी उपयोगी और कारगर सिद्ध हो रही है। सामाजिक परिवर्तन की तीव्र गति, जनसँख्या वृद्धि, ज्ञान का विस्फोट और सीमित शैक्षिक साधनों के

फलस्वरूप और साथ ही भौगोलिक दृष्टि से दूरवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले जनसमूहों तक पहुँच की अपनी सीमाओं के कारण भारत जैसे देश में दूरस्थ शिक्षा द्वारा औपचारिक शिक्षा प्रणाली का एक सशक्त विकल्प प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार वर्तमान संदर्भों में 'दूरस्थ शिक्षा कोई चुनाव या विकल्प का मुद्दा नहीं है, बल्कि यह समय की अनिवार्य माँग है' कहा जाना यथार्थपूर्ण लगता है।

दूरस्थ शिक्षा के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि यद्यपि दूरस्थ शिक्षा 20वीं शताब्दी की देन है, परन्तु इसके विचार के उद्भव स्रोत को इससे पूर्व में भी देखा जा सकता है। यह माना जाता है कि दूरस्थ शिक्षा का प्रारम्भ 'पत्राचार' द्वारा शिक्षण के रूप में वर्ष 1840 में पिट्सबर्ग के 'पैनी डक' के माध्यम से छात्रों को शार्टहैण्ड सिखाने के द्वारा हुआ था परन्तु कुछ विद्वान इसका प्रारम्भ वर्ष 1830 से मानते हैं जब एक निजी अध्यापक द्वारा अपने विद्यार्थियों को द्वि-मार्गी पत्र-व्यवहार के द्वारा शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया था। वर्ष 1856 में बर्लिन में पत्राचार द्वारा भाषा सिखाने के लिए एक स्कूल भी खोला गया। इसके बाद अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड, स्वीडन आदि में पत्राचार द्वारा शिक्षा का काफी विकास किया गया तथा अनेक शिक्षा संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों द्वारा मुद्रित पत्राचार सामग्री का प्रयोग शिक्षण के लिए करना प्रारम्भ कर दिया गया। भारत में पत्राचार शिक्षा का प्रारम्भ सर्वप्रथम दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा वर्ष 1962 में किया गया। इसके बाद उच्च शिक्षा के विभिन्न पाठ्यक्रमों हेतु पंजाब विश्वविद्यालय (1966), मेरठ विश्वविद्यालय (1969), मैसूर विश्वविद्यालय

(1969), आदि कई विश्वविद्यालयों द्वारा तथा प्रादेशिक माध्यमिक शिक्षा परिषदों द्वारा स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रमों हेतु पत्राचार द्वारा विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ किया गया। पत्राचार शिक्षा में मुद्रित सामग्री के साथ-साथ अध्ययन केंद्रों या रविवारीय कक्षाओं आदि के द्वारा 'कान्टेक्ट क्लासेज' के नाम से आमने-सामने बैठकर किए जाने वाले शिक्षण की भी प्रायः व्यवस्था की जाती रही है। पत्राचार शिक्षा में पाठ-लेखन का अत्यन्त महत्त्व है। इसमें पाठों को रोचक व वार्तालाप की शैली में लिखने का प्रयास किया जाता है तथा उनका सावधानीपूर्वक संपादन किया जाता है। पत्राचार के अध्ययन केंद्रों के अनुदेशकों का कार्य भी बहुत ही जिम्मेदारीपूर्ण तथा नियमित अध्यापक से भिन्न होता है। कान्टेक्ट क्लासेज अथवा व्यक्तिगत संपर्क कार्यक्रम पत्राचार शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण सोपान है जिसमें छात्रों की कठिनाइयाँ तथा जिज्ञासा को दूर करने के साथ-साथ इसमें उन्हें आवश्यक परामर्श भी दिया जाता है।

पत्राचार शिक्षा के संशोधित स्वरूप के रूप में मुक्त विश्वविद्यालयीय शिक्षा की व्यवस्था हेतु वर्ष 1969 में इंग्लैंड में 'यू. के. ओपन यूनिवर्सिटी' के नाम से प्रथम मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना हुई जिसके द्वारा अपने शैक्षिक कार्यक्रम वर्ष 1971 में प्रारम्भ किए गए। इस मुक्त विश्वविद्यालय को दूरस्थ शिक्षा के क्षेत्र में एक मील का पत्थर माना जाता है। ऐसा नहीं कि इसका संगठनात्मक स्वरूप, शिक्षा मॉडल अथवा इसके द्वारा प्रयुक्त शिक्षण विधियों, अनुकरणीय, सर्वोत्तम अथवा अपनाने योग्य रहे, बल्कि इसलिए कि इससे पूर्व तक

दूरस्थ शिक्षा को शैक्षिक क्षेत्र में गौण स्थान प्राप्त था तथा दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के माध्यम से शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को संस्थागत छात्रों की तुलना में हीन समझा जाता था। इन परिस्थितियों में इंग्लैंड के इस मुक्त विश्वविद्यालय द्वारा दूरस्थ शिक्षा के स्वरूप को एक मान्य शिक्षण विधि की स्वीकृति व गरिमा दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की गई। इसके द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया कि दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के माध्यम से अच्छी शिक्षा सम्भव है, यह कम व्यय पर परम्परागत शिक्षा के समान प्रभावशाली है तथा इससे शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी रोजगार व अन्य क्षेत्रों में समान रूप से स्वीकार्य हो सकते हैं। इसीसे प्रेरणा पाकर पश्चिमी जर्मनी में 1974 में 'फर्न मुक्त विश्वविद्यालय' की स्थापना की गई। बाद में थाइलैंड में 'सुखोथाई थम्मिथीरल मुक्त विश्वविद्यालय' श्रीलंका में 'ओपन यूनीवर्सिटी ऑफ श्रीलंका', पाकिस्तान में 'अल्लामा इकबाल ओपन यूनीवर्सिटी', कोरिया में 'कोरिया एयर करस्पांडेंस यूनीवर्सिटी', जापान में 'यूनीवर्सिटी ऑफ एयर' इंडोनेशिया में 'यूनीवर्सिटी टेरेबूका', कनाडा में 'अथाबास्का यूनीवर्सिटी', चीन की 'सैट्रल रेडियो एण्ड टेलीविजन यूनीवर्सिटी' आदि मुक्त विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इससे स्पष्ट है कि इंग्लैंड के मुक्त विश्वविद्यालय के उपरांत ही अमेरिका, यूरोप, एशिया, अफ्रीका आदि के अनेक देशों द्वारा दूरस्थ शिक्षा को अपनाने की दिशा में अनेकों सार्थक प्रयास किए गए भारत भी इसका अपवाद नहीं रहा।

वास्तव में दूरस्थ शिक्षा औपचारिक, अनौपचारिक तथा औपचारिकतर शिक्षा के लक्षणों का सम्मिलित रूप ही है। दूरस्थ शिक्षा पद्धति के विकास के

साथ-साथ दूरस्थ शिक्षा के अर्थ में भी परिवर्तन होता रहा है। उदाहरणस्वरूप प्रारम्भ में वर्ष 1850 से 1970 तक इसे 'पत्राचार शिक्षा' कहा गया। इसके बाद वर्ष 1970 से 1990 तक इसको 'मुक्त व दूरस्थ शिक्षा' कहा जाने लगा। वर्ष 1990 के पश्चात इसे 'वर्चुअल शिक्षा' कहा जाने लगा और 21वीं शताब्दी में इसे 'वेब बेस्ड एजुकेशन' या 'आन लाइन एजुकेशन' कहा जाता रहा है। दूरस्थ पद्धति द्वारा प्रदान की जाने वाली शिक्षा के लिए विभिन्न देशों में भी अलग-अलग नामों का प्रयोग होता है जैसे— फ्रांस में इसे टेली-एसाइनमेंट, जर्मनी में फर्न-स्टूडियम, स्पेन आदि देशों में 'एजुकेशन ए डिस्टेंशिया', आस्ट्रेलिया में 'एक्सटर्नल स्टडीज' या 'ऑफ कैम्पस स्टडीज' न्यूजीलैण्ड में 'एक्स्ट्रा मूलर' संयुक्त राज्य अमेरिका में 'होम स्टडी या इंडिपेंडेंट स्टडी' कहा जाता है। हमारे यहाँ इसे अभी कुछ वर्षों पूर्व पत्राचार शिक्षा के नाम से जाना जाता रहा लेकिन अब इसे 'दूरस्थ शिक्षा और 'मुक्त शिक्षा' कहा जाता है। इसे भले ही कहीं भी किसी भी नाम से पुकारा जाए लेकिन वास्तविक अर्थों में दूरस्थ शिक्षा वह शिक्षा व्यवस्था है जिसमें विद्यार्थियों द्वारा शिक्षकों से भौगोलिक दृष्टि से दूर रहकर मुद्रित सामग्रियों तथा संचार माध्यमों के प्रभावशाली सम्प्रेषण द्वारा शिक्षा अर्जन की जाती है। भारत में यों तो पत्राचार द्वारा शिक्षा प्रदान करने का कार्य मुक्त विश्वविद्यालयों की स्थापना से पूर्व कई विश्वविद्यालयों द्वारा किया जा रहा था परन्तु पूर्णरूपेण दूरस्थ शिक्षा पर आधारित कोई मुक्त विश्वविद्यालय यहाँ कार्यरत नहीं था। अतः तकनीकी विकास तथा आधुनिक सम्प्रेषण साधनों से संचालित होने वाली दूरस्थ एवं मुक्त

शिक्षा प्रणाली की उपादेयता को स्वीकार करते हुए हमारे देश में भी मुक्त विश्वविद्यालयों की स्थापना को महत्त्व दिया गया।

उल्लेखनीय है कि भारत में मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना का विचार सर्वप्रथम 70 के दशक के पूर्वार्द्ध में प्रस्तुत किया गया। इसके साथ ही 'जी. पार्थसारथी' की अध्यक्षता में गठित की गई एक समिति द्वारा वर्ष 1975 में देश के एक राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना करने की संस्तुति की गई। हालांकि भारत का प्रथम मुक्त विश्वविद्यालय राज्य स्तर पर वर्ष 1982 में आंध्र प्रदेश में 'आंध्र प्रदेश मुक्त विश्वविद्यालय' के नाम से हैदराबाद में खोला गया जिसका बाद में नाम बदलकर डा. बी.आर. अम्बेडकर मुक्त विश्वविद्यालय कर दिया गया लेकिन जब वर्ष 1982 में 'माधुरी बेन शाह' की अध्यक्षता में गठित एक समिति द्वारा राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की अविलम्ब स्थापना करने की सिफारिश की गई, तब वर्ष 1985 में भारत सरकार द्वारा एक राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय खोलने का निर्णय किया गया और तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी द्वारा अपने राष्ट्रीय प्रसारण में इस आशय की घोषणा की गई। इस घोषणा के उपरांत संसद में इस हेतु एक विधेयक का प्रारूप प्रस्तुत किया गया जिसे सितम्बर 1985 में संसद द्वारा विधिवत पारित कर दिया गया। तत्पश्चात 19 नवंबर 1985 को प्रधानमंत्री द्वारा देश में एक राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय स्थापित किए जाने हेतु 'इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय' के नाम से इसकी नींव रखी गई और इस विश्वविद्यालय का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में बनाया गया। वर्तमान में इस विश्वविद्यालय

में 34 देशों में बसे करीब 15 लाख विद्यार्थी अध्ययनरत हैं। इसके 58 प्रादेशिक केंद्र तथा 1400 अध्ययन केंद्र देश के सभी भागों में स्थित हैं। वर्तमान में इसके द्वारा 125 डिग्री डिप्लोमा तथा सर्टिफिकेट स्तर के करीब 1000 पाठ्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है। इस प्रकार वर्तमान में विश्व पटल पर यह विश्व के वृहद विश्वविद्यालयों में से एक महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिस्थापित है।

राष्ट्रीय स्तर पर 'इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय' की स्थापना के उपरांत विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा राज्य अधिनियमों के अन्तर्गत अभी तक 13 मुक्त विश्वविद्यालय स्थापित किए गए हैं। इनमें राजस्थान (कोटा) में वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय-1987; बिहार (नालन्दा) में नालन्दा मुक्त विश्वविद्यालय-1987; महाराष्ट्र (नासिक) यशवन्त राव चव्हान मुक्त विश्वविद्यालय 1989; मध्य प्रदेश (भोपाल) में भोज मुक्त विश्वविद्यालय-1991; गुजरात (अहमदाबाद) में डा. बाबा साहिब अम्बेडकर मुक्त विश्वविद्यालय-1994; कर्नाटक (मैसूर) में कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय-1996; पश्चिमी बंगाल (कोलकाता) में नेताजी सुभाष मुक्त विश्वविद्यालय-1997; उत्तर प्रदेश (इलाहाबाद) में राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय-1999; तमिलनाडु (चेन्नई) में तमिलनाडु मुक्त विश्वविद्यालय-2003; छत्तीसगढ़ (बिलासपुर) में पण्डित सुन्दर लाल शर्मा मुक्त विश्वविद्यालय 2005; आसाम (गुवाहाटी) में के. के. हैण्डिक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय-2005; तथा उत्तराखण्ड (हल्द्वानी) में उत्तरांचल मुक्त विश्वविद्यालय-2006



खोले गए हैं तथा परम्परागत विश्वविद्यालयों में मुक्त शिक्षा अथवा दूरस्थ शिक्षा पद्धति से शिक्षा प्रदान किए जाने हेतु वहाँ दूरस्थ शिक्षा केंद्र भी स्थापित किए गए हैं। वर्तमान में पूरे देश में स्थापित 13 मुक्त विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त 60 से भी अधिक परम्परागत विश्वविद्यालयों द्वारा विद्यार्थियों को पत्राचार अथवा दूरस्थ शिक्षा पद्धति को अपनाते हुए वहाँ डिग्री स्तर तक की शिक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था उपलब्ध है। शिक्षक-शिक्षा के बी.एड. व एम.एड. के पत्राचार व मुक्त पाठ्यक्रमों तथा सेवारत अध्यापकों के लिए ग्रीष्मकालीन तथा पत्राचार पाठ्यक्रमों का आयोजन भी कुछ विश्वविद्यालयों के द्वारा सफलतापूर्वक किया जा रहा है। जिसमें और अधिक विस्तार किए जाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त देश में माध्यमिक स्तर पर स्कूली शिक्षा को भी दूरस्थ तथा पत्राचार पद्धति से प्रदान किए जाने की व्यवस्था भी मौजूद है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि देश में माध्यमिक स्तर पर दूरस्थ शिक्षा पाठ्यक्रमों की औपचारिक शुरुआत वर्ष 1965 में हुई। वर्तमान में विभिन्न राज्यों की माध्यमिक शिक्षा परिषदों द्वारा पत्राचार पाठ्यक्रम संचालित किए जा रहे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के आधीन राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय जिसका नाम अब 'राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी संस्थान' कर दिया गया है, के द्वारा माध्यमिक स्तर पर दूरस्थ प्रणाली के द्वारा बृहद स्तर पर सफलतापूर्वक शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है लेकिन अभी तक भी इसमें सभी स्तरों पर आधुनिक संचार माध्यमों का समुचित और गहन रूप से प्रयोग

सम्भव नहीं हो पा रहा है। हालांकि वर्तमान में दूरस्थ प्रणाली के अन्तर्गत रेडियो, दूरदर्शन, इंटरनेट तथा ई-मेल आदि तकनीकी प्रविधियों का उपयोग काफी हद तक किया जाने लगा है लेकिन इन सभी शिक्षण संस्थाओं में मुख्य बल मुद्रित पाठ्यसामग्री पर ही रहता है तथा अन्य सम्प्रेषण माध्यमों का प्रयोग बहुत कम अर्थात् सीमित मात्रा में ही किया जा रहा है।

हमारे देश में विद्यमान आर्थिक व शैक्षिक परिस्थितियों के मद्देनजर दूरस्थ या मुक्त शिक्षा की महत्ता तथा देश के शैक्षिक विकास में इसकी संभावित भूमिका व उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986, संशोधित राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1992 में दूरस्थ शिक्षा तथा मुक्त विश्वविद्यालय के संबंध में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किए गए विचार अति महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें कहा गया है कि—

- देशवासियों हेतु उच्च शिक्षा के अवसर बढ़ाने तथा शिक्षा को जनतांत्रिक स्वरूप देने व इसे जीवनभर की प्रक्रिया बनाने के लिए शुरु की गई मुक्त अधिगम प्रणाली अति उपयोगी है। देश के नागरिकों, व्यवसायिक शिक्षा धारा में जाने वालों सहित, की विविधतापूर्ण आवश्यकताओं के लिए मुक्त अधिगम की लोचनीयता व नवाचार विशेष रूप से उपयुक्त है।
- इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्ष 1985 में स्थापित 'इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय' को सुदृढ़ किया जाएगा। इसके द्वारा राज्यों में मुक्त विश्वविद्यालयों की स्थापना में सहायता भी प्रदान की जाएगी।

- राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालयों को सुदृढ़ किया जाएगा तथा मुक्त अधिगम सुविधाओं को क्रमशः देश के सभी भागों में माध्यमिक स्तर पर विस्तृत किया जाएगा।
  - राष्ट्रीय शिक्षा नीति के 'प्रोग्राम ऑफ़ एक्शन' में भी इस संबंध में कहा गया कि मुक्त विश्वविद्यालय प्रणाली उच्च शिक्षा के अवसर बढ़ाती है, पहुँच सुनिश्चित करती है, लागत की दृष्टि से प्रभावशाली है तथा शिक्षा की नम्य व नवाचारी प्रणाली को प्रोत्साहित करती है। इसमें मुक्त विश्वविद्यालय प्रणाली विकसित तथा सुदृढ़ करने के लिए कहा गया कि—
  - महिलाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप तथा अध्यापक अनुस्थापन के पाठ्यक्रम चलाए जाएँगे।
  - पाठ्यक्रमों को मॉड्यूलर प्रारूप पर बनाया जाएगा जिनमें क्रेडिटों के संचयीकरण की सुविधा दी जाएगी।
  - शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर न्यूनतम अधिगम स्तर के निर्धारण का मानदण्ड बनाया जाएगा।
  - सम्प्रेषण माध्यमों का सहारा लिया जाएगा तथा स्वतंत्र रेडियो व दूरदर्शन चैनलों के लिए सूचना व जनसंचार मंत्रालय से समन्वय किया जाएगा।
  - दूरस्थ शिक्षा के समन्वय तथा स्तर निर्धारण के लिए राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय राज्यों के निर्देशन हेतु नियम बनाए जाएँगे।
  - मुक्त विश्वविद्यालय प्रणाली में पाठ्यक्रमों का नैटवर्क बनाने की व्यवस्था की जाएगी।
  - मुक्त विश्वविद्यालय के कार्यक्रमों की गुणवत्ता सुनिश्चित की जाएगी।
  - राज्यों में मुक्त विश्वविद्यालयों को सावधानीपूर्ण नियोजन के उपरांत ही खोलने हेतु राज्य सरकारों को समुचित परामर्श दिया जाएगा।
- उपरोक्त व्यवस्थाओं को क्रियान्वित किए जाने हेतु समय-समय पर सरकार द्वारा उपाय भी किए जाते रहे हैं, भले ही उनको समग्र और समंवित्र रूप में पूर्ण किया जाना संभव नहीं हो सकता है। इसकी महत्ता व व्यावहारिकता को देखते हुए आज इस तथ्य से कोई इंकार नहीं कर सकता कि भारत जैसे विकासशील देश में शिक्षक शिक्षा सहित उच्च शिक्षा के सार्वभौमिकरण हेतु दूरस्थ शिक्षा अपनी अनेकों अंतर्निहित विशेषताओं के कारण एक वरदान सिद्ध हो सकती है। भले ही आज पूरे देश में 400 से अधिक विश्वविद्यालयों और 17 हजार से भी अधिक उच्च शिक्षा प्रदान किए जाने हेतु विभिन्न स्तरीय शिक्षण संस्थान स्थापित हैं जिनमें 5 लाख के करीब शिक्षक कार्यरत हैं और करीब 1 करोड़ विद्यार्थी अध्ययनरत हैं। लेकिन आज भी हमारे करीब 80 हजार विद्यार्थी प्रतिवर्ष विदेशों में उच्च शिक्षा ग्रहण करने हेतु जाने को विवश हैं। देश में उच्च शिक्षा के अन्तर्गत 60 के दशक में होने वाले नामांकन का प्रतिशत भले ही 1 से बढ़कर आज 10 के करीब पहुँच गया है। उच्च शिक्षा संस्थानों में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं लेकिन यह अंतर्राष्ट्रीय औसत जो 22% है, की तुलना काफी कम है। संसार के विकसित देशों में तो उच्च शिक्षा में नामांकन का 50% से भी अधिक पाया जाता है। अपनी उच्च आर्थिक विकास दर को बनाए रखने के लिए हमें अपने 10% आँकड़ों को बढ़ाकर कम से कम 20-22% तक पहुँचाना नितान्त

आवश्यक है। देश में उच्च शिक्षा में नामांकन का प्रतिशत बढ़ाने की आवश्यकता के दृष्टिगत योजना आयोग द्वारा 11वीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक अर्थात् वर्ष 2012 तक इसको 15% तथा 12वीं योजना के अन्त अर्थात् वर्ष 2017 तक 20% तक किए जाने के लक्ष्य भी निर्धारित किए गए हैं। इसी क्रम में 'राष्ट्रीय ज्ञान आयोग' द्वारा भारत को ज्ञानवान समाज के रूप में विकसित करने हेतु कम से कम 1500 विश्वविद्यालयों तथा 50,000 अच्छे कॉलेज स्थापित किए जाने की आवश्यकता का आकलन किया गया है। हाल ही में प्रस्तुत यशपाल समिति की रिपोर्ट में भी उच्च शिक्षा के व्यापक संवर्धन हेतु अनेक उपाय सुझाए गए हैं। शिक्षा के क्षेत्र में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश भी बढ़ाकर 100% किए जाने से विदेशी शिक्षण संस्थाओं द्वारा भी और जोर-शोर से भारत में अपने संस्थान खोले जा रहे हैं।

इन परिस्थितियों में एक ओर जहाँ नए-नए उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थापना हो रही है, वहीं दूसरी ओर देश में बड़ी मात्रा में हमारा युवा वर्ग भी उच्च शिक्षा की ओर उन्मुख हो रहा है। हमारे यहाँ उच्च शिक्षा की तेजी से बढ़ती लागत, समुचित मात्रा में समुचित गुणवत्तायुक्त शिक्षण संस्थानों की अनुपलब्धता, औपचारिक संस्थानों में अत्यधिक भीड़-भाड़ के कारण वहाँ के गुणस्तर में हास जैसे अनेक कारणों ने आज दूरस्थ शिक्षा की ओर रुख किए जाने पर मजबूर भी किया है। वैसे भी मुक्त विश्वविद्यालयों में परम्परागत विश्वविद्यालयों की तरह उपलब्ध कराए जा रहे विविधतापूर्ण पाठ्यक्रम, विविध स्तरीय शिक्षण की व्यवस्था, सतत् मूल्यांकन, परीक्षण व प्रमाणन

की व्यापक सुविधा, शिक्षा प्रदान करने के लिए पत्राचार के साथ-साथ रेडियो, दूरदर्शन, कम्प्यूटर आदि सहित मल्टीमीडिया के संयुक्त रूप से प्रयोग, सूचना-तकनीकी के तीव्र गति से प्रसार के कारण दूरस्थ पद्धति पर ऑन लाइन सेवाओं, इलैक्ट्रॉनिक-नेटवर्क, इंटरनेट तथा वर्ल्ड वाइड वेब जैसी सुविधाओं की उपस्थिति, सेल्फ इंस्ट्रक्शनल एसाइमेंट्स, एकेडमिक काउंसिलिंग, श्रव्य-दृश्य सामग्री, प्रोजेक्ट वर्क, वर्कशाप, टेलीकांफ्रेंसिंग जैसे निवेशों के तेजी से बढ़ते प्रयोग ने दूरस्थ माध्यम से प्रदत्त की जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता में काफी हद तक बढ़ोत्तरी की है। इन संदर्भों में इस सत्यता से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि उपरोक्त विशेषताओं के होते हुए भी दूरस्थ पद्धति के माध्यम से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों को कम-से-कम हमारे देश में समान स्तर का स्वीकार नहीं किया जा रहा है। हालांकि इसके लिए भी अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। सर्वप्रथम तो हमारे यहाँ दूरस्थ पद्धति के द्वारा प्रदत्त किए जा रहे शिक्षण में अभी भी मुख्य बल मुद्रित पाठ्यसामग्री पर ही रहता है तथा आधुनिक संचार प्रणाली और मल्टी-मीडिया का प्रयोग नाममात्र के लिए किया जा रहा है जिसके लिए शीघ्रतापूर्वक आवश्यक व्यवस्थाएँ सुनिश्चित की जानी आवश्यक हैं। दूरस्थ शिक्षा परिषद् द्वारा यद्यपि 'उच्च शिक्षा के लिए दूरस्थ शिक्षा की नई नीति-2009' में इस दिशा में आवश्यक व्यवस्थाएँ की गई हैं जिन पर दृढ़तापूर्वक अमल किया जाना बहुत जरूरी है।

इस पद्धति में विभिन्न पाठ्यक्रमों से संबंधित विषयवस्तु का समयानुसार परिवर्तन भी सम्भव

नहीं हो पाता क्योंकि इस कार्य में बहुत अधिक धन और मानव शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसकी सामान्यतया इन संस्थानों के पास कमी रहती है। अतः इसके लिए भी समुचित व्यवस्थाओं का निर्धारण किया जाना बहुत जरूरी है। इनके पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले सम्पर्क कार्यक्रमों का आयोजन करने वाले लोगों द्वारा सम्पर्क कक्षाओं को पूर्ण गम्भीरता से नहीं लिया जाता और ये कक्षाएँ सामान्य औपचारिक कक्षाओं की तरह ही आयोजित की जाती हैं जिनमें मुख्यतया व्याख्यानों का ही प्रयोग होता है। फलस्वरूप दूरस्थ शिक्षा के विद्यार्थी इस प्रकार के कार्यक्रमों से समुचित रूप से लाभाहित नहीं हो पाते। विभिन्न संस्थानों द्वारा आयोजित किए जाने वाले सम्पर्क कार्यक्रमों व शैक्षिक निर्देशनों के लिए निपुण व सक्षम व्यक्ति उपलब्ध इसलिए भी नहीं होते क्योंकि उन्हें समुचित पारिश्रमिक दिए जाने की व्यवस्था नहीं रहती है। मूल्यांकन पद्धति के संबंध में भी इनका प्रायः यही हाल रहता है। इन विद्यार्थियों की उत्तर पुस्तिकाओं का मूल्यांकन भी शिक्षकों द्वारा आमतौर पर गम्भीरता से नहीं किया जाता और समुचित

फीडबैक भी नहीं दिया जाता जबकि टिप्पणियाँ या निर्देशन दूरस्थ विधि का एक अहम इनपुट है। जहाँ तक मुक्त विश्वविद्यालयों द्वारा आधुनिक सूचना तकनीकी के प्रभावशाली प्रयोग का प्रश्न है, वास्तविकता तो यह है कि अभी भी हमारी जनसँख्या के सीमित वर्ग के पास ही कम्प्यूटर की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। अतः इसका समुचित उपयोग सम्भव नहीं हो पाता। शिक्षक शिक्षा के विशेष संदर्भ में शिक्षण संबंधी प्रयोगात्मक अभ्यास की समुचित सुविधाएँ सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हो पाती हैं जिनकी प्रशिक्षण की गुणवत्ता पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। दूरस्थ पद्धति द्वारा शिक्षण एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र में अनुभूत की जा रही इस प्रकार की कठिनाइयों का निराकरण किए बिना इसके लक्ष्यों को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञ, नीति निर्धारक, नियोजन तथा प्रेक्टिशनर्स गहन विचार-विमर्श करके क्रियान्वयन योग्य एक व्यावहारिक रूपरेखा तैयार करें और दृढ़ इच्छाशक्ति एवं निष्ठा के साथ सम्मिलित रूप से उसके समुचित क्रियान्वयन हेतु प्रयास करें तो इस दिशा में वांछित सफलता की आशाएँ की जा सकती हैं।

# ‘बाल उत्सव’-एक संक्षिप्त रिपोर्ट

अंजुला सागर\*

केंद्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की संघटक ईकाई के रूप में शैक्षिक प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में एक अग्रणी संस्थान के रूप में कार्य कर रहा है। संस्थान का प्रमुख सरोकार विद्यालयी बच्चों और शिक्षकों के लिए शैक्षिक वीडियो-ऑडियो कार्यक्रमों का विकास, कम लागत वाली सामग्रियों का निर्माण, और तकनीकी कार्यों में कर्मिकों का प्रशिक्षण, मूल्यांकन-संबंधी शोध का आयोजन, प्रलेखन, सूचनाओं और सामग्रियों का प्रसार तथा शैक्षिक प्रौद्योगिकी के व्यवहार और विकास संबंधी परामर्श प्रदान करना है।

संस्थान द्वारा निर्मित शैक्षिक दूरदर्शन कार्यक्रमों का प्रसारण डी.डी.-1 और ज्ञानदर्शन चैनल पर हिंदी में विभिन्न आयु वर्ग और स्कूली अवस्थाओं के बच्चों के लिए ‘तरंग’ शीर्षक के अंतर्गत प्रसारित किया जाता है। प्रतिदिन (सोमवार से शुक्रवार) इन कार्यक्रमों का प्रसारण डी.डी.-1 पर 55 मिनट और ज्ञानदर्शन चैनल पर 3 घंटे 40 मिनट का होता है। इसी प्रकार रेडियो कार्यक्रमों का प्रसारण ‘उमंग’ के नाम से 30 मिनट प्रतिदिन 14 हिंदी ज्ञानवाणी रेडियो एफ एम चैनल पर किए जाते हैं। ये कार्यक्रम विद्यालयों में पढ़ने वाले हर स्तर के बच्चों के लिए होते हैं।

स्कूल कैलेंडर में ‘ग्रीष्म कालीन अवकाश’ बच्चों के लिए महत्वपूर्ण समय है जिसमें बच्चे अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न कार्यकलापों में अपनी प्रतिभा निखार सकते हैं। इन अवकाश के दिनों में बच्चों को चाहिए एक अवसर जिसमें वे अपनी छुपी हुई सृजनात्मकता, कला और अभिव्यक्ति को रूप दे सकें, निखार सकें और इस दिशा में मार्गदर्शन पा सकें।

इन्हीं उद्देश्यों के मद्देनजर केंद्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान ने गर्मी की छुट्टियों में एक ‘बाल उत्सव’ का आयोजन किया। बाल उत्सव यानि बच्चों के लिए आयोजित मेला जिसमें वे अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न गतिविधियों तथा

\* क्षेत्र निरीक्षक, केंद्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली.

कार्यशालाओं में भाग ले सकें और नई-नई कलाएँ और कौशल सीख सकें। केंद्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान के प्राँण में इस वर्ष ग्रीष्म कालीन अवकाश में बाल उत्सव 17 मई से 11 जून 2010 तक आयोजित किया गया। इस बाल उत्सव में विभिन्न विषयों पर निम्नलिखित कार्यशालाओं का आयोजन किया गया—

- कम्प्यूटर पाठशाला
- कठपुतली संचालन कला
- रेडियो से परिचय
- टी.वी. प्रोग्रामिंग से परिचय
- कार्टून कला से परिचय
- सी.आई.ई.टी. द्वारा निर्मित शैक्षिक कार्यक्रमों का बच्चों द्वारा मूल्यांकन

इन कार्यशालाओं का संचालन, समन्वयन तथा आयोजन संस्थान के ही संकाय सदस्यों, कार्यक्रम निर्माताओं तथा अन्य तकनीकी सदस्यों द्वारा किया गया। इसमें संयुक्त निदेशक, केंद्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान (सी.आई.ई.टी.) से निरंतर मार्गदर्शन मिलता रहा। इस बाल उत्सव का समग्र समन्वयन डा. अनूप राजपूत द्वारा किया गया। इन कार्यशालाओं का विस्तृत विवरण इस प्रकार है।

**कम्प्यूटर पाठशाला**— (कार्यशाला समन्वयक श्री नरेन्द्र सिसोदिया) यह कार्यशाला 17 से 21 मई 2010 को आयोजित की गई। इसमें कुल 15 बच्चों ने भाग लिया जो कि माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक कक्षाओं के थे। 'सॉफ्टवेयर', 'स्कूल ओ. एस.' के विषय में विस्तृत जानकारी दी गई। बच्चों ने इस सॉफ्टवेयर में स्वयं कार्य करना सीखा तथा नई-नई जानकारियाँ हासिल कीं।

**कठपुतली संचालन कला**— (कार्यशाला समन्वयक श्री राजेश निर्मेश और श्री प्रमोद शर्मा) यह कार्यशाला तीन समूहों में 17 से 21 मई 2010 तथा 31 मई से 04 जून 2010 (सुबह और शाम दो बैच) को आयोजित की गई। इसमें कुल 50 बच्चों ने भाग लिया जो प्राथमिक से माध्यमिक कक्षाओं के थे। इसमें कागज़ और बचे हुए कपड़ों की कतरनों द्वारा तरह-तरह की कठपुतलियाँ बनाना सिखाया गया। हर प्रतिभागी बच्चे ने मन पसन्द कठपुतली बनाई। इन कठपुतलियों को बच्चों ने दैनिक जीवन से जोड़कर उन्हें तरह-तरह की कहानियों में पिरोया जिसमें बच्चों की स्वयं भागीदारी रही और उन्होंने खूब आनन्द लिया। बच्चों के अनुसार कठपुतलियों के चेहरे नए-नए ढंग से बनाना और सजाना उन्हें बहुत अच्छा लगा। इसमें बच्चों की सृजनात्मकता निखरकर सामने आई। प्रत्येक बच्चे ने स्वयं 2-3 कठपुतलियाँ बनाई। बच्चों की कठपुतलियों का इस्तेमाल कर मंचित की गई कहानियों की सी.आई.ई.टी. द्वारा विडियो रिकार्डिंग भी की गई।

**रेडियो से परिचय**— (कार्यशाला समन्वयक डा. कामिनी भटनागर और श्री अजीत होरो) यह कार्यशाला 25 से 28 मई 2010 को आयोजित की गई इसमें कुल 14 बच्चों ने भाग लिया जो कि प्राथमिक से माध्यमिक कक्षाओं के थे। इसमें बच्चों ने वे विषय पहचानना सीखा जिन पर वर्तमान परिपेक्ष्य में आलेख लिखे जा सकें, तत्पश्चात उन्होंने चुने हुए विषयों पर 'आलेख' लिखना सीखा। उसपर उन्होंने चर्चाकर संशोधित आलेख रेडियो कार्यक्रमों के लिए तैयार किए।

दूसरे चरण में बच्चों ने कार्यक्रम रिकॉर्डिंग करना सीखा। कार्यक्रम की रिकॉर्डिंग से जुड़े विभिन्न पहलुओं को बच्चों ने देखा और समझा। कार्यक्रम के दौरान और बाद में बच्चों ने बताया कि ये काम करना उनके लिए अद्भुत था। आश्चर्यजनक रूप से इस कार्यशाला में बच्चों द्वारा 15 रेडियो कार्यक्रमों का निर्माण किया गया। यह कार्यक्रम विभिन्न सामाजिक मुद्दों जैसे जेंडर सरोकार इत्यादि पर बनाए गए।

**टी.वी. प्रोग्रामिंग से परिचय—**(कार्यशाला समन्वयक श्री मनोज शुक्ल और श्री वाई.के. गुप्ता) यह कार्यशाला 31 मई से 11 जून 2010 को आयोजित की गई जिसमें वीडियो आलेख लेखन, कैमरा संचालन करना व अन्य संबंधित तकनीकियों की विस्तारपूर्वक जानकारी दी गई। इसमें कुल 16 बच्चों ने भाग लिया जो कि माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक कक्षाओं के थे। बच्चों ने आलेख तैयार किए, स्वयं उस पर रिकॉर्डिंग, अभिनय कर कुल तीन वीडियो कार्यक्रम बनाएँ इसमें बच्चों ने किशोरों की समस्याओं पर एक बहुत अच्छा विडियो तैयार किया।

**कार्टून कला से परिचय—**(कार्यशाला समन्वयक श्री डा. अनुभूति यादव) बच्चों को कार्टून बहुत पसंद हैं, यह सत्य किसी से छिपा नहीं। पर यह एक कला और कौशल है, जिससे अवगत करवाया गया इस कार्यशाला में। यह कार्यशाला 31 मई से 4 जून 2010 को आयोजित की गई जिसमें बच्चों ने कार्टून के माध्यम से अपनी बात कहने की कला को सीखा। इसमें कुल 17 बच्चों ने भाग लिया जो कि प्राथमिक से माध्यमिक कक्षाओं के थे। बच्चों ने विभिन्न

सामाजिक तथा व्यक्तिगत पहलुओं पर 'कॉमिक्स' बनाए प्रत्येक बच्चे ने दो-दो कॉमिक्स तैयार किए और 'कॉमिक्स' पर बच्चों ने विशेषज्ञों से पढ़वाकर उनकी प्रतिक्रिया भी प्राप्त की। प्रदूषण और पशु-पक्षियों के प्रति सरोकार वाले कॉमिक्स इस कार्यशाला का आकर्षण रहे।

**सी.आई.ई.टी. द्वारा निर्मित शैक्षिक कार्यक्रमों का बच्चों द्वारा मूल्यांकन—**(कार्यशाला समन्वयक डॉ. अंजुल सागर) केंद्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान पिछले कई दशकों से बच्चों के लिए और अन्य पणधारियों के लिए कार्यक्रम बनाता रहा है। ये कार्यक्रम अक्सर व्यस्कों द्वारा बनाए जाते हैं और उनके द्वारा ही मूल्यांकित किए जाते हैं। इस कार्यशाला द्वारा यह प्रयास किया गया कि बच्चों के परिपेक्ष्य इन कार्यक्रमों के संबंध में जाना जाएँ इसलिए माध्यमिक और उच्च माध्यमिक कक्षाओं के बच्चों को अवसर दिया गया कि संस्थान द्वारा निर्मित कार्यक्रमों को अपने नजरिए से मूल्यांकित करें। यह कार्यशाला 24 से 26 मई 2010 को आयोजित की गई। इसमें 23 बच्चों ने भाग लिया। इस कार्यशाला का उद्देश्य था संस्थान द्वारा बच्चों के लिए बनाए गए शैक्षिक ऑडियो-विडियो कार्यक्रमों पर बच्चों की प्रतिक्रिया, सुझाव प्राप्त करना और उनकी रुचि और रुझान को समझना ताकि भविष्य में नए कार्यक्रमों का निर्माण उसी के अनुसार किया जा सके। कुल 12 कार्यक्रमों का अवलोकन करवाया गया जिसमें 6 वीडियो और 6 ऑडियो कार्यक्रम थे। मुक्त वार्ता सत्र में बच्चों ने खुलकर अपने विचार प्रकट किए कुछ मुख्य बातें उनके अपने शब्दों में—

- “मेघा द्वारा रोने वाला भाग संशोधित होना चाहिए क्योंकि वीरता की बात सुनकर जोश आता है, रोना नहीं।” (ऑडियो कार्यक्रम मेजर सोमनाथ शर्मा)
- “कार्यक्रम में दिखाए गए सभी उदाहरणों ने विषय अच्छे से उभारा। ये उदाहरण हमारे दैनिक जीवन से जुड़े हुए हैं।” (वीडियो कार्यक्रम क्रिया-प्रतिक्रिया)

इन सभी कार्यशालाओं ने बच्चों के लिए सीखने के उत्सव के रूप में तो कार्य किया ही साथ ही इससे जुड़े संस्थान के सभी सदस्यों और अन्य संस्थानों के आमंत्रित विशेषज्ञों के

लिए भी यह एक उत्सव सरीखा अनूठा अनुभव रहा। समापन सत्र में बच्चों को उनकी भागीदारी का प्रमाण पत्र निदेशक, प्रो. जी. रविन्द्रा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् तथा निदेशक, सुश्री अमिता शॉ बाल भवन द्वारा दिया गया। इस सत्र में उपस्थित एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक, सचिव, सी.आई.ई.टी. की संयुक्त निदेशक, संकाय सदस्य तथा अन्य सदस्यों ने बच्चों के अनुभवों को सुना, सराहा तथा उन्हें अपने आशीर्वचनों से अभिभूत किया। सभी ने बच्चों की सृजनात्मकता को बढ़ावा देने के उद्देश्य से इन कार्यक्रमों के निरंतर आयोजन की आवश्यकताओं पर बल दिया।



# पावलो फ्रेरे के शैक्षिक चिंतन के संदर्भ में

## भारतीय शैक्षिक परिदृश्य

देवेन्द्र सिंह\*

शिक्षा सिर्फ सूचनात्मक ज्ञान, सैद्धांतिक ज्ञान, पुस्तकीय ज्ञान एवं सीखने-सिखाने की अवधारणा न होकर आजीवन चलने वाली सोद्देश्य प्रक्रिया एवं सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। यही कारण है कि विश्व के सभी चिंतक एवं दार्शनिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा संदर्भ से जुड़े रहे हैं। आधुनिक भारतीय शिक्षा अपनी अर्द्ध औपनिवेशिक प्रवृत्ति के कारण विभिन्न आंतरिक दुर्बलताओं को सातत्य प्रदान करती जा रही है जो निश्चित रूप से चिंतनीय है। भारतीय संदर्भ में टैगोर, विवेकानंद, अरविंद, गाँधी, गिजूभाई, जैसे विचारकों ने जिस भारतीय शिक्षा की समस्याओं को विश्लेषित किया है उसी को यूरोप, अमेरिका, ब्राजील की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उपक्रमों के क्षेत्र में पावलो फ्रेरे ने देखने का प्रयास किया है। फ्रेरे, इवान इलिच की भाँति सम्पूर्ण शैक्षिक ढाँचे को नष्ट करने के हिमायती तो नहीं हैं लेकिन शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं। फ्रेरे भी मानते हैं कि शिक्षण संस्था से बाहर भी शिक्षा जैसी कोई चीज हो सकती है। वह शिक्षा प्रणाली के माध्यम से छात्रों में आलोचनात्मक चेतना विकसित कर सामाजिक न्याय केंद्रित, शोषण मुक्त और पूर्ण मानुषीकरण जैसा परिवर्तन, शैक्षिक क्रांति द्वारा लाने पर बल देते हैं। पावलो फ्रेरे ने शिक्षा को रुचिकर बनाने, पाठ्यक्रम का लचीलापन, स्वतः स्फूर्ति द्वारा सीखना, शिक्षक को अभिभावकत्व बोध बनाने, शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिकता से समृद्ध करने, बालक को वस्तु की जगह मानव ईकाई मानने, सीखने को कृत्रिमता के भ्रम से यथार्थ के धरातल पर लाने, अनौपचारिक शैक्षिक गतिविधियों को शैक्षिक रूप से अधिक प्रभावी बनाने, शिक्षा के माध्यम से सामाजिक रूपान्तरण करने आदि के बहुत से प्रयास किए हैं।

\*रीडर, शिक्षा संकाय, सतीश चंद्र कॉलेज, बलिया, उत्तर प्रदेश।

शिक्षा सिर्फ सूचनात्मक ज्ञान, सैद्धांतिक ज्ञान, पुस्तकीय ज्ञान या सीखने-सीखाने की अवधारणा न होकर आजीवन चलने वाली सोद्देश्य प्रक्रिया एवं सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। यह व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर मानव जीवन की गुणात्मकता को निर्धारित करती है, क्योंकि मनुष्य का सर्वांगीण विकास जितना शिक्षा से जुड़ा है, शायद अन्य किसी पक्ष से नहीं। यही कारण है कि विश्व के सभी चिंतक एवं दार्शनिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा संदर्भ से जुड़े रहे हैं। पावलो फ्रेरे भी पाश्चात्य संदर्भ के शैक्षिक विमर्श से जुड़े ऐसे ही शैक्षिक चिंतक हैं जिनके चिंतन की सांदर्भिक उपादेयता भारतीय शैक्षिक संदर्भ में विवेचित एवं विश्लेषित की जा सकती है।

### भारतीय शिक्षा प्रणाली की वर्णनात्मक प्रवृत्ति

वर्तमान शैक्षिक संदर्भ में शिक्षा व्यक्ति को विशिष्ट दिशा देने में असमर्थ-सी हो रही है क्योंकि वह सिर्फ सूचनात्मक, पुस्तकीय एवं सैद्धांतिक ज्ञान तक ही सीमित होती जा रही है। परिणामतः दिशाहीन एवं निरर्थक है। यह शिक्षक-शिक्षार्थी के अर्थपूर्ण संवाद से संबंधित न होकर सिर्फ वर्णन करती है। शिक्षक एवं शिक्षार्थी में ज्ञान की जिज्ञासा एवं अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति समाप्त-सी हो गयी है। शिक्षक सिर्फ वेतनभोगी व्यक्ति रह गया है और शिक्षार्थी सिर्फ प्रमाणीकरण से जुड़ने वाला व्यक्ति। शिक्षक सूचनात्मक ज्ञान को शिक्षार्थी के सम्मुख आधे-अधूरे मन से प्रस्तुत करता है, अर्थात् शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक

सक्रिय भूमिका में होता है वहीं शिक्षार्थी शिक्षक केंद्रित (शिक्षार्थी निष्क्रिय) व्याख्यान को सुनता है। वर्णन छात्रों को वर्णित वस्तु को यांत्रिक ढंग से रट लेने के तरफ ले जाता है। फ्रेरे (1970) का मानना है—

*“इससे भी स्थिति नाजुक तब होती है जब शिक्षक, शिक्षार्थी को ‘पात्र’ या बर्तन बना देता है। जिन्हें शिक्षक द्वारा भरा जाना होता है।”*

इस प्रकार शिक्षा की वर्णनात्मक प्रणाली में शिक्षक सक्रिय (वर्णनकर्ता) होता है। शिक्षार्थी (श्रोता) होता है। वर्णन की प्रक्रिया में शिक्षक का ज्ञान के ऊपर एकाधिकार होता है।

भारतीय शिक्षा प्रणाली भी आज शिक्षा वर्णन के रोग से पीड़ित है। जबकि शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी के मध्य सिर्फ अर्थपूर्ण संवाद न होकर (द्विमुखी प्रक्रिया), त्रिमुखी (शिक्षक-शिक्षार्थी-पाठ्यक्रम) प्रक्रिया है। यह सिर्फ सूचनात्मक ज्ञान से संबंधित न होकर विवेक से समन्वित है। इस प्रकार शिक्षा को जितने अवयव प्रभावित और निर्धारित करते हैं, इस दृष्टिकोण से वर्तमान संदर्भ में शिक्षा आजीवन चलने वाली बहुमुखी प्रक्रिया है एवं विवेकोउन्मुख मानवीकरण की संवाद की प्रक्रिया है। इसे आलोचनात्मक चेतना एवं सृजनात्मकता से संबंधित होना चाहिए। भारतीय शिक्षा प्रणाली के इस रोग को पावलो फ्रेरे के विचारों का आधार मानकर बैंकिंग पद्धति (वर्णनात्मक) से समस्या समाधान (स्वतंत्रवादी) पद्धति की तरफ प्रतिमान परिवर्तन करके दूर किया जा सकता है क्योंकि समस्या समाधान शिक्षा का उद्देश्य शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच अर्थपूर्ण सामंजस्य उत्पन्न करना है। शिक्षा का

प्रारम्भ शिक्षक शिक्षार्थी अंतर्विरोध का समाधान करना होता है और यह तभी हो सकता है जब अन्तर्विरोध के दोनों ध्रुवों को मिला दिया जाए और शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों एक साथ बँध जाए। शिक्षा की वर्णनात्मक प्रवृत्ति मनुष्य को वस्तु के रूप में मानकर चलने की शिक्षा समझ से प्रारम्भ होती है, इसलिए वह 'जीवन प्रेम' के विकास को प्रोत्साहित नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत 'मृत्यु प्रेम' पैदा करती है। इस प्रकार भारतीय शिक्षा में भी प्रतिमान परिवर्तन (वर्णनात्मक से समस्या समाधान) करके मानव जीवन की गुणात्मकता को बनाए रखा जा सकता है।

### शिक्षा प्रणाली एवं सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों का संबंध विच्छेद

वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली से सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों (सत्य, धर्म, प्रेम, शांति, अहिंसा) का संबंध विच्छेद-सा हो गया है, जिससे शिक्षा प्रणाली में प्रदर्शन प्रभाव (डिमांस्ट्रेशन इफेक्ट) परिलक्षित हो रहा है एवं सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का अवमूल्यन हुआ है क्योंकि शिक्षा एवं सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों में अनन्य संबंध है। मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन के कारण प्रचलित शिक्षा प्रणाली दिशाहीन, निरर्थक एवं अप्रासंगिक सिद्ध हो रही है, जिससे राष्ट्रीय चेतना, चरित्र, सोच एवं प्रतिभा में हास हुआ है। पूर्णतः मूल्य विमुख शिक्षा से संस्कार, चरित्र एवं सर्वांगीण विकास की पूर्णतः उपेक्षा होती है। सिर्फ संसद द्वारा अनुमोदित शिक्षा को ही राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली नहीं कहा जा सकता। सही अर्थों में राष्ट्रीय शिक्षा वह है जो राष्ट्र की प्रतिभा, परम्परा एवं चरित्र से जुड़ी हुई हो।

शिक्षा से मानवीय मूल्यों के विलोप के कारण सम्पूर्ण मानव जीवन की गुणवत्ता प्रभावित हो रही है क्योंकि मानव जीवन की गुणवत्ता का मानवीय मूल्यों से अनन्य संबंध है। मूल्य विमुख शिक्षा प्रणाली का दुष्प्रभाव यह हो रहा है कि यह एक ओर भौतिकतावादी प्रवृत्तियों एवं उपभोक्तावादी समाज को प्रोत्साहित कर रही है दूसरी तरफ एकांगी होकर आध्यात्मिकता से उदासीन होती चली जा रही है। मानव जीवन की गुणवत्ता एवं संतुलन के लिए शिक्षा एवं सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों में समन्वय होना चाहिए। आधुनिक प्रचलित शिक्षा व्यक्ति में सिर्फ बौद्धिकता का विकास कर रही है, परिणामतः ज्ञान का तो विस्तार हो रहा है लेकिन विवेक क्षीण हो रहा है जिससे जीवन मूल्यों में हास हो रहा है। आज विश्व समाज पीड़ित है। क्योंकि ज्ञान का विस्तार तेजी से हो रहा है। ज्ञान के विस्तार के अनुपात में जीवन मूल्य नहीं विकसित हो पाए हैं। वैश्विक संदर्भ में यही दुःख का कारण है क्योंकि सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों (सत्य, धर्म, शांति, प्रेम, अहिंसा) के बिना शिक्षा का मूल्य शून्य है।

पावलो फ्रेरे के चिंतन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जिस मूल्योन्मुख शिक्षा प्रणाली को प्रस्तुत किया है, वह सामाजिक न्याय, शोषणविहीनता एवं मानवतावादी आदि श्रेष्ठ मूल्यों पर आधारित है जो शोषणविहीन समाज की स्थापना के लिए श्रेष्ठतर है। पावलो फ्रेरे के चिंतन के सम्यक् विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्होंने शिक्षा एवं व्यक्ति के जीवन की गुणात्मकता को एक दूसरे का पर्याय माना है। तात्पर्य यह है कि फ्रेरे ने

व्यक्ति की सर्वोच्च नैतिकता का विकास (मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई) के उपकरण के रूप में सार्वभौमिक मानवीय मूल्य (चिंतन एवं कर्म) को स्वीकार किया है। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्वावलम्बी, सच्चरित्र, विनयशील, करुणायुक्त, दयावान, अहिंसक, शोषणविहीन युक्त मानव का निर्माण शिक्षा ही कर सकती है।

आज भारतीय संदर्भ जिस राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व चारित्रिक संकट के दौर से गुजर रहा है उससे बचा जा सकता है, यदि राष्ट्रीय हित, समग्रविकास एवं शिक्षा में सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों को व्यवहार में उतारते हुए। प्रेरे के चिंतन का अनुसरण किया जाए जो सामाजिक न्याय, सामाजिक समानता एवं शोषणविहीनता आदि मानवीय मूल्यों पर आधारित है वर्तमान संदर्भ में उपादेय है। केवल लिपि व भाषा व्यक्ति के शिक्षित होने के मानक नहीं हो सकते। मूल्य बोध, सामाजिक न्याय, कर्तव्यपरायणता मानुषीकरण तथा संवेदनशीलता अधिक स्वीकार्य मूल्य हैं। निष्कर्षतः सार्वभौमिक मानवीय मूल्य एवं शिक्षा प्रणाली एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधाभासी नहीं। दूसरों से प्रेम करना, दूसरों की सहायता करना, पारस्परिक सहयोग से अपना तथा दूसरों का विकास करना प्रेरे के लिए मानवीय मूल्य रहे।

### शिक्षा के राजनीतिकरण का संकट

वर्तमान भारतीय संदर्भ में राजनीति मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही है, जिससे राष्ट्र विशेष की शिक्षा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। आज जब व्यक्ति जीवन में उदासीन, भ्रांति एवं

क्लांति से पीड़ित है, समाज सामाजिक विषमता से प्रभावित है, राजनीति मनुष्य के सार्वजनिक जीवन को उभारने व संवारने के बजाए उसे नकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान कर रही है। लोकतंत्र एवं लोकतांत्रिक मूल्य सिर्फ सैद्धांतिक अवधारणा होकर रह गए हैं। राजनीति के अपराधीकरण एवं अपराधियों के राजनीतिकरण के कारण लोकतांत्रिक नैतिकता क्षीण होती जा रही है। इन संदर्भों में राजनीति से सकारात्मक दृष्टिकोण की उम्मीद करना निरर्थक है। राजनीति, राजनीतिक विचारधारा एवं राजनेता सभी शिक्षा में हस्तक्षेप एवं अतिक्रमण कर रहे हैं एवं छात्रों को संकीर्ण राजनीति की तरफ प्रेरित कर रहे हैं जिससे शिक्षकों-छात्रों में अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है।

आदर्श स्थिति यह है कि व्यक्ति निश्चित रूप से राजनीति शास्त्र का अध्ययन करें लेकिन शिक्षा जो व्यक्ति को विशिष्ट दिशा देती है एवं सबका विकास करती है, उसका राजनीतिकरण न करें। शिक्षाप्रणाली न्यायपालिका जैसी स्वतंत्र होनी चाहिए। शिक्षा का राजनीतिकरण न होकर राजनीति का शिक्षाकरण होना चाहिए, तत्पश्चात् व्यक्ति का शिक्षाकरण होना चाहिए। अतः प्रतिमान परिवर्तन राजनीति एवं व्यक्ति के शिक्षाकरण की तरफ होना चाहिए। छात्रों को समर्पण की भावना से अध्ययन करना चाहिए। जिससे वे शैक्षणिक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर हो सकें। शिक्षा के राजनीतिकरण के कारण ही शिक्षण संस्थाओं में धरना-प्रदर्शन एवं हड़ताल होते रहते हैं। जिससे शैक्षिक पारिस्थितिकी पर ऋणात्मक प्रभाव पड़ रहा है। निष्कर्षतः सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली न्याय प्रणाली जैसी स्वतंत्र होनी चाहिए एवं राजनीति

का शिक्षाकरण एवं शिक्षा का अराजनीतिकरण ही सर्वश्रेष्ठ विकल्प है। लेकिन पावलो फ्रेरे का मानना है कि शिक्षा भी एक राजनीति है। क्योंकि बिना शिक्षा के राजनैतिक क्रांति नहीं हो सकती। उद्देश्य यह होना चाहिए कि कैसे व्यक्तियों का विवेकीकरण एवं मानुषीकरण किया जाए। इसीलिए फ्रेरे कहते हैं कि शिक्षा तो एक राजनीति है, लेकिन क्या राजनीति शैक्षिक है? तत्पश्चात् उनका मानना है कि चोरी से शिक्षा पहुँचानी होगी। निष्कर्षतः शैक्षिक क्रांति के माध्यम से ही राजनैतिक क्रांति लायी जा सकती है एवं शिक्षा का अराजनीतिकरण ही राजनीति के शिक्षाकरण में सहायक सिद्ध हो सकता है (टेलर-1993)।

### **प्रमाणीकृत शिक्षा लक्ष्य और मानवतावादी शिक्षा लक्ष्य द्वन्द्व**

मानुष्य मात्र के लिए शिक्षा तो एक ऐसा मंत्र है जो व्यक्ति के सम्पूर्ण आचरण, व्यवहार एवं जीवन-मूल्यों को प्रभावित करता है। शिक्षा से केवल शिक्षा ग्रहण करने वाला ही प्रभावित नहीं होता, बल्कि प्राप्त शिक्षा से निर्मित अपने व्यक्तित्व से व्यक्ति सम्पूर्ण परिवेश, समाज और राष्ट्र को उत्प्रेरित करता है। अतः शिक्षा का मानव-सभ्यता के इतिहास के आदि काल से ही विकास होता रहा है तथा इसके मूल्यों में युगानुरूप परिवर्तन भी हुआ है। प्रत्येक देश विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को प्रकट करने में बढ़ावा देने और चुनौतियों का सामना करने के लिए समसामयिक अपेक्षाओं के अनुरूप शिक्षा प्रणाली में परिवर्द्धन व संवर्द्धन भी करता है। परन्तु कोई भी शैक्षिक लक्ष्य राष्ट्र के लिए तभी उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता

है जब वह अपने राष्ट्र विशेष की संस्कृति और भौतिक प्रगति के साथ-साथ सामान्य नागरिकों के जीवन मूल्यों तथा एकता की भावना को भी सुदृढ़ करे। (गौड़-2001)।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में संकीर्ण शैक्षिक लक्ष्यों को ही शिक्षा की अवधारणा माना जाने लगा है क्योंकि प्रमाणीकृत शिक्षा एवं मानवतावादी शिक्षा में द्वन्द्व-सा है। आज उपाधि उन्मुख शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत विद्यार्थी को उपाधियों से अलंकृत या विभूषित करना ही शिक्षा का परम उद्देश्य हो गया है। प्रमाणीकरण के कारण प्रमाण-पत्र बाजार में उसके मूल्य सूचक बन जाते हैं, जिससे समाज में उसके प्रत्याशा स्तर को परिभाषित किया जाता है। शिक्षा प्रणाली में यह सिखाया जाता है कि अनुदेशन से ही अधिगम उत्पन्न होता है। शिक्षण संस्थाएँ इस बात को सफलतापूर्वक प्रमाणित करती हैं कि सभी मूल्यवान अधिगम उसी परिवेश में घटित होते हैं। इसीलिए वह पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधियों में मानकीकरण लाती है, जबकि प्रमाणीकृत शिक्षा लक्ष्य एक मिथ्या है। पावलो फ्रेरे का मानना है कि संस्था से बाहर भी शिक्षा जैसी कोई प्रक्रिया हो सकती है। इसलिए फ्रेरे ने शिक्षा का लक्ष्य विवेकीकरण के माध्यम से व्यक्ति का पूर्ण मानुषीकरण रखा। उनके अनुसार शिक्षा की अवधारणा जानने या कंठस्थ करने की क्रिया न होकर मुक्ति की एक सांस्कृतिक कार्रवाई है।

भारतीय संदर्भ में विद्यालयों की संख्यात्मक प्रवृत्ति को ही शैक्षिक अवधारणा मानने की भूल की जा रही है। सही अर्थों में प्रचलित आधुनिक शिक्षा को शिक्षा नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभेदीकरण के अभाव में बुद्धि का महत्त्व नहीं

है। वह ज्ञान किस काम का यदि उसको कौशल में बदलने की क्षमता न हो। शिक्षा मात्र शब्दों का ज्ञान नहीं है। यह मानसिक क्षितिज को विस्तृत करता है। चरित्र अधिक महत्वपूर्ण है जो आध्यात्मिकता द्वारा विकसित किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा की अवधारणा का आधार विस्तृत मानवतावादी लक्ष्य होना चाहिए, जिसका मूल उद्देश्य मानवतापूर्ण व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होना चाहिए।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली ज्ञान केंद्रित न होकर धन केंद्रित है। प्रमाणीकृत शिक्षा के अंतर्गत शैक्षिक लक्ष्य धनोपार्जन करना है वहीं मानवतावादी शिक्षा का लक्ष्य सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव का निर्माण है। अतः प्रतिमान परिवर्तन धन शक्ति की श्रेष्ठता से सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव का निर्माण होना चाहिए। इसी को पावलो फ्रेरे बैंकिंग शिक्षा पद्धति (प्रमाणीकरण लक्ष्य) से समस्या उठाऊ शिक्षा (स्वातंत्रावादी शिक्षा) की तरफ प्रतिमान परिवर्तन मानते हैं। लेकिन यहाँ पर पावलो फ्रेरे के चिंतन की सांदर्भिक उपादेयता न्यून प्रतीत होती है क्योंकि भारत में आज भी प्रमाणीकरण के प्रति आकर्षण बना हुआ है एवं प्रमाणीकरण को ही गुणवत्ता से जोड़कर देखा जा रहा है। पावलो फ्रेरे की यह अवधारणा प्रासंगिक लगती है कि औद्योगिक समाज संकीर्ण शैक्षिक लक्ष्यों के तरफ मोड़ देता है। प्रमाणीकरण को पावलो फ्रेरे एक निषेधात्मक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। भारतीय संदर्भ में आजकल प्रमाणीकरण को गुणवत्ता के साथ जोड़कर देखा जा रहा है और ऐसा प्रतीत होने लगा है कि प्रमाणीकृत शिक्षा ही एक मात्र शिक्षा है। प्रमाणीकृत शिक्षा की

दुर्बलताएँ पश्चिम के विकासशील राष्ट्रों में स्पष्ट कुप्रभाव छोड़ रही है परन्तु भारतीय संदर्भ में प्रमाणीकरण के प्रति आकर्षण है। यहाँ पावलो फ्रेरे वर्तमान भारतीय शैक्षिक संरचनात्मक स्वरूप में अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

## शिक्षा प्रणाली में अभिभावकत्व बोध की कमी

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अभिभावकत्व बोध की कमी है क्योंकि यह सूचनात्मक ज्ञान के आदान-प्रदान तक ही सीमित है। यहाँ सूचनात्मक ज्ञान एक उपहार होता है जो स्वयं को ज्ञानवान समझने वालों (शिक्षक) के द्वारा उनको दिया जाता है, जिन्हें वे नितान्त अज्ञानी (छात्र) समझते हैं। यह शिक्षा प्रणाली शिक्षा और छात्रों के समक्ष स्वयं को एक आवश्यक विलोम के रूप में प्रस्तुत करती है, उन्हें परम अज्ञानी मानकर वह अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करती है। इस शिक्षा के द्वारा छात्रों की सृजनात्मक शक्ति न्यून हो जाती है या समाप्त हो जाती है और तुरन्त विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। शिक्षक असाधारण व्यक्तित्व न होकर सिर्फ वेतनभोगी व्यक्ति बनकर रह जाता है एवं छात्र रटने की वस्तु बनकर।

प्रचलित भारतीय शिक्षा प्रणाली में शिक्षक के कर्म की दो अवस्थाएँ घटित होती हैं। पहली अवस्था में जब शिक्षक अध्ययन कक्ष में या प्रयोगशाला में बैठकर छात्रों के लिए पाठ तैयार करता है, संज्ञेय वस्तु का संज्ञान करता है। दूसरी अवस्था में वह छात्रों के सामने उस वस्तु का प्रतिपादन करता है। छात्रों से यह अपेक्षा नहीं की जाती है कि वे उस

वस्तु को जानें, अपेक्षा यह की जाती है कि शिक्षक ने जो बातें बतायी है उन्हें रट लें। छात्र भी किसी संज्ञान कर्म का अभ्यास नहीं करते क्योंकि जिस वस्तु पर यह कर्म होना चाहिए वह शिक्षक और छात्रों के बीच आलोचनात्मक चिंतन उत्पन्न करने का माध्यम नहीं होती बल्कि शिक्षक की अपनी सम्पत्ति होती है। अतः ज्ञान और संस्कृति को सुरक्षित रखने के नाम पर एक ऐसी व्यवस्था रहती है जिसमें न तो सच्चा ज्ञान उपलब्ध होता है, न सच्ची संस्कृति। इस प्रकार प्रचलित शिक्षा प्रणाली में सिर्फ छात्रों के संज्ञानात्मक पक्ष पर ही बल दिया जाता है, भावात्मक व क्रियात्मक पक्ष पूर्णतः उपेक्षित हो जाते हैं जिससे शिक्षा का संबंध सिर्फ स्मृति स्तर तक ही रह जाता है। अवबोध एवं परावर्तन स्तर पृष्ठभूमि में होते हैं, जिससे शिक्षकों एवं शिक्षा प्रणाली में अभिभावकत्व बोध की कमी होती है। पावलो फ्रेरे की स्पष्ट मान्यता थी कि शिक्षा प्रणाली के द्वारा छात्रों में आलोचनात्मक चेतना विकसित होनी चाहिए। शिक्षक एक जगह संज्ञानात्मक और दूसरी जगह वर्णनात्मक नहीं होता। उसकी भूमिका हमेशा संज्ञानात्मक होती है। छात्र निष्क्रिय नहीं रहते, शिक्षक से संवाद करते हुए आलोचनात्मक सह-अनुसंधानकर्ता बन जाते हैं। फ्रेरे शिक्षक को अभिभावक के रूप में स्थापित करते हैं जो विवेकीकरण के माध्यम से व्यक्ति का मानुषीकरण करता है।

### सृजनात्मकता का हास

वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली परीक्षा केंद्रित, सूचना उन्मुख, प्रमाणीकरण, पुस्तकीय एवं

सैद्धांतिक होने के कारण अप्रसांगिक सिद्ध हो रही है। इसमें सिर्फ रटने (स्मरण) पर बल देने के कारण इसमें सृजनात्मकता का अभाव है। छात्रों में मौलिकता, नवीनता, रचनात्मकता, प्रवाहशीलता, नमनीयता आदि मनोवैज्ञानिक गुणों का पूर्णतः विलोप हो रहा है। आज बच्चों को परिवार में मिलने वाली अनौपचारिक शिक्षा अर्थात् बच्चों में व्यवहार प्रतिमान संस्कार, मूल्य एवं आदतों का निर्माण जैसे सामाजिक उत्तरदायित्वों को भी शिक्षण संस्थाओं पर डाल दिया गया है जबकि शिक्षण संस्थाओं की स्थिति यह है कि वहाँ बोझयुक्त पाठ्यक्रम के सामने प्ले वे लर्निंग एवं ज्वायफुल लर्निंग, शिक्षक के स्वस्थ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, कक्षा का प्रत्यक्ष संवाद, छात्रों की वास्तविक समस्याओं से परिचित होकर उनके निदान के तंत्र का विकास जैसे शिक्षण बिन्दु पृष्ठभूमि में चले गए हैं, जिससे सृजनात्मकता का क्रमशः हास होता जा रहा है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) की ओर से प्रस्तुत एबिलिटी लर्निंग टेस्ट के नतीजे बताते हैं कि कक्षा-5 तक के औसतन 45% बच्चों को गणित में औसत ज्ञान भी नहीं है। इसके अतिरिक्त भाषा, विज्ञान व सामाजिक विज्ञान में भी पढ़ने-लिखने की स्थिति काफी बदतर है (गुप्ता-2008)।

वर्तमान शैक्षिक परिदृश्य एवं उसका क्रियात्मक पहलू कोर्स रटाने, परीक्षा सम्पन्न कराने और परीक्षा परिणाम तक ही सीमित होकर रह गया है। इस शिक्षा प्रणाली में शिक्षक का स्थान मात्र वेतनभोगी व्यक्ति तथा शिक्षार्थी की स्थिति तोता रटत जैसे संवेदना शून्य छात्र

की बनकर रह गयी है। परीक्षा का परिणाम बच्चों को आत्मघाती बना रहा है। यथार्थ यह है कि शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम के सामने विद्यार्थी का रचनात्मक व्यक्तित्व कहीं खो गया है। नौकरी और डिग्री के बीच का सहसंबंध भी इस शिक्षा व्यवस्था को पाठ्यक्रमोन्मुख बनाने को मजबूर कर रहा है। इस पाठ्यक्रम में भले ही सैद्धांतिक कौशल है परन्तु छात्र की क्रियात्मक शक्ति लुप्त होती जा रही है। पावलो फ्रेरे द्वारा प्रस्तावित समस्या उठाऊ शिक्षा का मूल उद्देश्य ही अर्थपूर्ण संवाद एवं सृजनात्मकता विकसित करना है। इस प्रकार फ्रेरे का चिंतन एवं समस्या उठाऊ शिक्षा द्वारा छात्रों में निश्चित रूप से सृजनात्मकता का विकास किया जा सकता है।

### शिक्षा प्रणाली में अमनोवैज्ञानिकता

वर्तमान युग सूचना एवं संचार तकनीक का है। इसमें ज्ञान का विस्फोट हो रहा है। ज्ञान को सूचना का पर्याय माना जा रहा है। समूचा पाठ्यक्रम ज्ञान के विस्फोट की अवधारणा के कारण जानकारी मूलक बनता जा रहा है। विद्यार्थी अवधारणा को सीखे बिना उसे यांत्रिक रूप से रट लेता है। भारतीय शिक्षा प्रणाली में अधोलिखित अ-मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं—

- शिक्षा प्रणाली का सिर्फ संज्ञानात्मक पक्ष तक ही सीमित होना अर्थात् भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष की पूर्णतः उपेक्षा की जा रही है।
- ज्ञान को सूचना का पर्याय मानने के कारण शिक्षक व छात्र सिर्फ स्मृति स्तर के शिक्षण व चिंतन तक सीमित हो गए हैं, अर्थात्

अवबोध एवं परावर्तित स्तर पृष्ठभूमि में चले गए हैं।

- शिक्षा प्रणाली केवल बुद्धिलब्धि तक ही सीमित हो गयी है। यह संवेगात्मक बुद्धि लब्धि एवं आध्यात्मिक बुद्धिलब्धि को उपेक्षित कर दे रही है।
- छात्रों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं हो पा रहा है।
- शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया अधिक यांत्रिक हो गयी है।
- बाल मनोविज्ञान एवं बाल केंद्रित शिक्षा सिर्फ सैद्धांतिक अवधारणा बनकर रह गई है।
- इलेक्ट्रॉनिक शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया के कारण शिक्षा प्रणाली अ-मनोवैज्ञानिक हो गयी है।

वर्तमान प्रचलित पाठ्यक्रम का अ-मनोवैज्ञानिक एवं अति कृत्रिम होने का ही दुष्परिणाम है कि बच्चों के ऊपर बस्ते का बोझ बढ़ता चला जा रहा है। पाठ्यक्रम मनोवैज्ञानिक रूप से अ-प्रासंगिक सिद्ध हो रहा है जिससे सृजनात्मकता का हास हो रहा है एवं विद्यालय में अतिकृत्रिमता का वातावरण है।

### शिक्षा प्रणाली का पुस्तक, पाठ्यक्रम एवं अध्यापक केंद्रित होना

भारत में प्रचलित शिक्षा सैद्धांतिक एवं सूचनात्मक होने के कारण पुस्तक केंद्रित, पाठ्यक्रम केंद्रित एवं शिक्षक केंद्रित होती जा रही है जिसके अधोलिखित दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं—

- प्रतिभाओं की उपेक्षा,
- अवांक्षणीयता को निर्बाध रूप से सामाजिक मान्यता,



- श्रम शक्ति की उपेक्षा,
- उपभोग ही जीवन का अन्तिम अभिप्राय,
- श्रेष्ठ परम्परागत मूल्यों के प्रति उदासीनता,
- शिक्षा को मात्र रोजगार एवं साक्षरता तक सीमित करके इसके सामर्थ्य को न्यून करना,
- गुणवत्तायुक्त शिक्षण एवं प्रशिक्षण का अभाव
- ज्ञानात्मक रूप से पाठ्यक्रमों का अप्रासंगिक होना,
- सूचनात्मक क्षमता को ही श्रेष्ठ शिक्षा का पर्याय मानना, और
- जनसंचार माध्यमों को अ-शैक्षिक कार्यक्रमों में लगाना।

अतः उपरोक्त दुष्प्रभावों को समूल दूर करने के लिए पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर कुशलता एवं कौशल का समावेश होना चाहिए। शिक्षा प्रणाली इस प्रकार विकसित की जाए कि वह व्यक्ति को चरित्रवान, श्रमसाध्य व स्वावलम्बी बनाए। सच्चे अर्थों में शिक्षा का अभिप्राय भी यही है कि वह राष्ट्र निर्माण, मानव निर्माण एवं शांतिपूर्ण विश्व का निर्माण करे। पावलो प्रेरे की समस्या उठाऊ शिक्षा (Problem Posing Education) द्वारा दुष्प्रभावों को असाध्य होने से पहले जो अपनी शैशवावस्था में ही है, भारत में और अधिक असाध्य होने से पहले ही दूर किया जा सकता है, क्योंकि विवेकीकरण व पूर्णतः मानुषीकरण की अवधारणा भारत में मानवतापूर्ण व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास से संबंधित है। पुस्तक केंद्रित शिक्षा के बारे में प्रेरे का स्पष्ट अभिमत था कि कभी-कभी हम गलतियाँ कर बैठते हैं। पुस्तक के महत्त्व को,

पढ़ने के महत्त्व को तथा अभ्यास के महत्त्व को नकारते हैं जबकि पुस्तकीय शिक्षा में सिद्धांत और व्यवहार दोनों का समावेश क्रियात्मक रूप से होता है और इसमें व्यवहार व सिद्धांत दोनों के बीच एक द्वन्द्वात्मकता होती है अर्थात् सिद्धांत एवं व्यवहार के बीच एकता।

### शिक्षा में बढ़ते शैक्षिक बोझ की प्रवृत्ति

किसी भी राष्ट्र या समाज में परिलक्षित होने वाली उन्नति उस राष्ट्र या समाज की शिक्षा का प्रतिफल होती है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है और मनुष्य के द्वारा सभ्यता और संस्कृति का विकास किया जाता है। इसीलिए शिक्षा को जीवन की प्रयोगशाला माना जाता है। लेकिन शिक्षा व्यवस्था के उपाधि एवं मूल्यांकन केंद्रित होने के कारण बालकों पर शैक्षिक बोझ बढ़ता चला जा रहा है एवं बालक कुंठा का शिकार हो रहे हैं।

विद्यार्थियों पर शैक्षिक बोझ और शिक्षा की गिरती हुई गुणवत्ता के संबंध में समय-समय पर चिंता व्यक्त की जाती रही है। विद्यार्थियों पर से शैक्षिक बोझ कम करने के लिए ईश्वर भाई पटेल समिति (1977), राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् का कार्य समूह (1984) और राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा समिति (1990) ने महत्त्वपूर्ण सिफारिशों की हैं—पर जब भी नया पाठ्यक्रम लागू किया जाता है, समस्या घटने के स्थान पर और बढ़ जाती है।

भारतीय संदर्भ में प्रो. यशपाल की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी, जिसने 1993 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय को अपना

प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसका शीर्षक था— 'लर्निंग विदाउट बर्डेन' अर्थात् 'शिक्षा बिना बोझ के'। प्रो. यशपाल ने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया कि बच्चों को बोझ (शैक्षिक) से पूर्णतया मुक्त किया जाए, उन्हें पुस्तकीय ज्ञान न देकर व्यावहारिक व कौशलात्मक ज्ञान दिया जाए। उन्होंने बढ़ते शैक्षिक बोझ के लिए 'ज्ञान का विस्फोट' को महत्त्वपूर्ण कारण माना। उन्होंने सुझाव दिया कि विद्यालयों में व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा को बढ़ाने वाले कार्यक्रम आयोजित न किये जाए, शिक्षक-प्रशिक्षण को पत्राचार द्वारा न दिया जाएँ, छात्रों से रटने वाले प्रश्न न पूछकर अवधारणात्मक प्रश्न पूछे जाएँ एवं बालकों के पाठ्यक्रम में सृजनात्मक कौशल से संबंधित अंशों का समावेश किया जाए। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित अनुशंसाएँ की गई—

- प्राथमिक स्तर तक केवल मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए।
- व्यक्तिगत सफलता को पुरस्कृत किये जाने वाली प्रतियोगिताओं को हतोत्साहित किया जाना चाहिए क्योंकि वे बालकों को आनन्ददायक शिक्षा से वंचित करती हैं। फिर भी स्कूलों में सहयोगशील शिक्षा प्राप्ति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से सामूहिक क्रियाकलाप तथा सामूहिक सफलता को प्रोत्साहित व पुरस्कृत किया जाना चाहिए।
- पाठ्यक्रम निर्माण तथा पाठ्यपुस्तक लेखन की प्रक्रिया को विकेंद्रित किया जाना चाहिए जिससे शिक्षकों की भागीदारी बढ़ सके।
- सेंट्रल बोर्ड ऑफ सैकेंडरी एजुकेशन का अधिकार क्षेत्र केवल केंद्रीय तथा नवोदय

विद्यालयों तक ही सीमित रहे और दूसरे सभी स्कूल अपने राज्य मण्डलों से सम्बद्ध रहें।

- नर्सरी कक्षाओं में प्रवेश के लिए टेस्ट और साक्षात्कार लेने की प्रथा समाप्त की जानी चाहिए।
- छोटे-छोटे बच्चों को प्रतिदिन किताबों के भारी बस्तों को स्कूल ले जाने के लिए मजबूर कर यंत्रणा देने का कोई औचित्य नहीं है। पाठ्यपुस्तकें स्कूल की सम्पत्ति होनी चाहिए। स्कूल को गृह कार्य के लिए अलग से समय-सारिणी तैयार कर बच्चों को पहले से बता देना चाहिए।
- परीक्षाओं का पुनरीक्षण कर यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि पाठ्यसामग्री आधारित और प्रश्नोत्तर के प्रकार के प्रश्नों के स्थान पर संकल्पना आधारित प्रश्न पूछे जाएँ।

लेकिन सरकार ने रिपोर्ट पर अमल न कर पुनः उसकी संभाव्यता के परीक्षण के लिए चतुर्वेदी समिति का गठन कर दिया। चतुर्वेदी समिति ने यशपाल समिति की मुख्य सिफारिशों को ही नकार दिया। इस प्रकार काफी समय तक यशपाल समिति की रिपोर्ट एक सैद्धांतिक विमर्श की वस्तु बनकर रही। परन्तु हाल ही में एन.सी.ई. आर.टी. द्वारा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 का आधार इस रिपोर्ट को बनाया और इसकी अनुशंसाओं पर अमल करते हुए न केवल पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों में बदलाव लाए गए वरन् परीक्षापद्धति में सुधार लाने में प्रयास जारी हैं।

हमारी शिक्षा व्यवस्था में आज यह कमजोरी है कि हम बच्चों के अपने अनुभवों को उनकी

अपनी स्वाभाविक भाषा को, स्वाभाविक बोली को बहुत जल्दी एक मानक भाषा में या एक मानक सोच के साँचे में ढाल देना चाहते हैं। हम अपने व्यवहार में एक छोटे बच्चे और एक किशोर में फर्क नहीं कर पाते। हालाँकि सैद्धांतिक रूप से शिक्षक शिक्षक-प्रशिक्षण में बाल मनोविज्ञान एवं शिशु मनोविज्ञान के बारे में सीखते हैं, लेकिन कक्षा शिक्षण में अनुप्रयोग नहीं करते अर्थात् अनुप्रयोगात्मक उपादेयता न्यून हो जाती है। शिक्षा के इन आरंभिक वर्षों में बच्चे जिन प्राकृतिक क्षमताओं के साथ आये हैं, उन्हें पहचान कर उनको संवारना, उनको निखारना, प्रोत्साहित करना शिक्षा का उस अवस्था के लिए उद्देश्य होना चाहिए तभी बच्चा एक ऊर्जस्व व्यक्ति बन सकेगा। वह चुप नहीं बैठेगा और सहभागिता करते हुए अपने दिमाग से सोचेगा। उस समय वह शिक्षक के बताए गए सत्य का मोहताज नहीं होगा। नए-नए स्रोतों को ढूँढेगा। सिर्फ पाठ्यपुस्तक पर निर्भर नहीं रहेगा। वह पाठ्यपुस्तक से शुरु होकर अन्य स्रोतों की तरफ बढ़ेगा।

(‘शिक्षा के उद्देश्य’ कृष्ण कुमार-2005)

शैक्षिक बोझ के कारण ही आज भी बालकेंद्रित शिक्षा प्रणाली एक सैद्धांतिक अवधारणा बनकर रह गयी है, जिसके कारण छात्रों में तर्क, विश्लेषण, सृजनशीलता आदि गुणों का अभाव है। बालकों में समस्या समाधान व आलोचनात्मक चिंतन का विकास नहीं हो पा रहा है। जबकि पावलो फ्रेरे की पेडागाजी में शिक्षार्थी को केंद्र में रखकर शिक्षा योजना प्रस्तावित की गयी है एवं इसके समाधान स्वतंत्रावादी

शिक्षा (समस्या उठाऊ) में मिलते हैं। इस प्रकार फ्रेरे विवेकीकरण एवं आलोचनात्मक चेतना की अवधारणा को महत्त्व देते हैं।

### शिक्षण संस्था में अति कृत्रिमता

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शिक्षण संस्थाओं का वातावरण नीरस, अव्यावहारिक एवं अति कृत्रिम होता है। जो बालकों के लिए नीरस एवं उबाऊ होता है। यहाँ का वातावरण भययुक्त होता है— यथा शिक्षक का डर, घंटी का डर, प्रवेश का डर, परीक्षा का डर, मूल्यांकन का डर, पाठ्यक्रम का डर, अनुदेशन के माध्यम का डर। इसके परिणामस्वरूप छात्रों की सृजनात्मक क्षमता जिज्ञासा व कल्पनाशक्ति का विकास नहीं होता है। शिक्षण संस्था अपने विद्यार्थियों को उनकी आयु के अनुसार बाँट देती है। प्रायः इस वर्गीकरण में मान लिया जाता है कि बालक विद्यालय के लिए हैं, बालक विद्यालय में ही अधिगम प्राप्त करते हैं तथा बालकों को सिर्फ विद्यालय के माध्यम से ही सिखाया जा सकता है। जबकि यथार्थ यह है कि विद्यालय बालकों के लिए हैं। बालक विद्यालय के अतिरिक्त अन्य माध्यमों से भी अधिगम अर्जित करते हैं।

विद्यालयीकरण के प्रभाव के अंतर्गत आने वालों में औपचारिक शिक्षा व्यवस्था द्वारा दिये जाने वाले प्रमाण-पत्रों, डिप्लोमा एवं उपाधियों को ही ज्ञान प्राप्ति का निर्णायक लक्ष्य मान लेने की प्रवृत्ति होती है। इस धरणा का शिकार होकर विद्यार्थी भी शिक्षा का अर्थ प्रमाण-पत्र या उपाधियाँ अर्जित करना समझने लगते हैं और जिनके पास जितनी अधिक उपाधियाँ होती हैं उन्हें वे उतना

ही अधिक ज्ञानी सिद्ध या विशेषज्ञ मान बैठते हैं। जबकि इवान इलिच की तरह ही पावलो फ्रेरे का चिंतन भी यह मानता है कि संस्था से बाहर भी शिक्षा जैसी कोई प्रक्रिया हो सकती है, क्योंकि फ्रेरे भी तत्कालीन शिक्षा प्रणाली को वर्णनात्मक मानते थे। इसलिए बैंकिंग प्रणाली की आलोचना करते हैं। भारतीय संदर्भ में विद्यालयों में शिक्षा की अवधारणा, शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, अनुशासन, वातावरण, शिक्षक-शिक्षार्थी संबंध एवं शिक्षण अधिगम परिस्थितियों में भी स्वभाविक वातावरण न होकर कृत्रिम पारिस्थितिकी पायी जाती है।

### संस्थागत शिक्षा को ही शिक्षा का पर्याय मानना

प्रचलित भारतीय शिक्षा में संस्थागत शिक्षा को ही शिक्षा का पर्याय माना जाता है क्योंकि यह धारणा प्रचलित हो गयी है कि बालकों को विद्यालय (संस्था) के माध्यम से ही सिखाया जा सकता है। परीक्षा, मूल्यांकन एवं प्रमाणीकरण की विश्वसनीयता एवं वैधता संस्थागत शिक्षा में अधिक है। लेकिन संस्थागत शिक्षा के माध्यम से विद्यालयों में प्रवेश कराने मात्र से ही सार्वभौमिक शिक्षा सम्भव नहीं है। यह न तो शिक्षकों की अपने छात्रों के प्रति परिवर्तित अभिवृत्ति और न ही शैक्षिक हार्डवेयर या साफ्टवेयर के विस्तार या शिक्षक के दायित्व में अभिवृद्धि द्वारा उपलब्ध हो सकती है। भारतीय संदर्भ में दी जाने वाली शिक्षा समाज में मिथ्या एवं भ्रम पैदा कर रही है। संस्थागत शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करने

का प्रयास तो किया किन्तु प्रयास असफल सिद्ध हुआ। शैक्षिक भूमिका का निर्वाह करने में संस्था अप्रासंगिक सिद्ध हो रही है।

संस्थागत शिक्षा भी भारतीय संदर्भ में विभेद कर रही है। एक तरफ गरीब, शोषित, पिछड़ों एवं सामान्य जन के लिए सरकारी शिक्षा है तो दूसरी तरफ, अभिजात वर्ग के लिए महँगी निजी शिक्षा है। इस प्रकार संस्थागत शिक्षा भारतीय संदर्भ को 'भारत' एवं 'इंडिया' में विभाजित कर रही है। सूचना एवं संचार तकनीक शिक्षा (इलेक्ट्रॉनिक शिक्षा) भी भारतीय जनमानस में 'डिजिटल डिवाइड' कर रही है, एक तरफ भारत जिसका संबंध 98% से है तो दूसरी तरफ से इंडिया जो 2% है। इससे सामाजिक विलगाव (Social Isolation) को बढ़ावा मिल रहा है। इस प्रकार संस्थागत शिक्षा से संकीर्ण परिवेश सृजित हो रहा है एवं अभिजात वर्ग के हित का पोषक है। शिक्षा सामाजिक रूपांतरण जैसे महत्वपूर्ण कार्य से विमुख होती जा रही है, क्योंकि पूर्णतः मानुषीकरण के लिए आलोचनात्मक चेतना एवं सामाजिक रूपान्तरण अनिवार्य है।

संस्थागत शिक्षा में समग्र मनुष्य की अवधारणा से संबंधित संकीर्णता से है। शिक्षा का संदर्भ मनुष्य के व्यक्तित्व की समग्रता है। जिंदगी जीने की बुनियादी जरूरतों के मामले में प्रत्येक स्त्री-पुरुष समान है और यही मानवता की एकता है। इस उद्देश्य की तरफ ऐसा स्कूल बढ़ ही नहीं सकता जो अपनी प्रवेश नीति के माध्यम से सामाजिक स्तर योग्यता या व्यवहार की एक रूपता स्थापित करना चाहता हो। पढ़ाई भले वहाँ कितनी कठोर होती हो परन्तु ऐसी शिक्षा बच्चे

के मन में निहित सार्थकता की प्यास नहीं बुझा सकती। सार्थकता का जन्म दूसरे मनुष्यों से हमारे रिश्ते की पृष्ठभूमि में होता है। दूसरों से जुड़ना ही वह संदर्भ रचता है जिसमें हमारी ज्ञान-पिपासा और जाँच-पड़ताल सार्थक बनती है। सीमित प्रवेश की नीति पर चलने वाले स्कूल में यह संदर्भ स्थायी रूप से अविकसित रहता है। वहाँ पढ़ने को विवश रहते हैं। अभिजात स्कूल का वातावरण मानवीय रूप से इतना कुपोषित रहता है कि अपने बच्चों को प्रोत्साहित करने के लिए उसे अनवरत् प्रतियोगिता का प्रबंध करना पड़ता है। 'निजी उपलब्धि' और 'संस्था के प्रति निष्ठा' समानार्थी बना दिये जाते हैं। अंतर्विरोध यह है कि एक तरफ अभिजात स्कूल प्रतियोगिता के द्वारा योग्यता के प्रोत्साहन पर बल देते हैं, दूसरी तरफ वे शिक्षण के आधुनिक प्रगतिशील तरीके लागू करना चाहते हैं। फोबेल के बाद से शिक्षण में प्रगतिशीलता एक मुख्य बात रही है कि बच्चों को बच्चों की तरह रखिए अर्थात् उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक जीने दिया जाए (कृष्ण कुमार-1996)।

इस प्रकार सिर्फ संस्थागत शिक्षा द्वारा गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सभी को नहीं प्रदान की जा सकती। वैकल्पिक साधन भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं—यथा दूरवर्ती शिक्षा, मुक्त शिक्षा, इलेक्ट्रॉनिक शिक्षा आदि। पावलो फेरे ने स्वीकार किया कि संस्था या विद्यालय के बाहर भी शिक्षा जैसी कोई चीज हो सकती है। उन्होंने हाइलैंडर इंस्टीच्यूट की स्थापना करके इसको सिद्ध किया। भले ही उन्हें संस्थागत शिक्षा के विरोध करने के कारण देश से निर्वासित जीवन जीना पड़ा। उनका भी

मानना था कि प्रचलित शिक्षा उत्पीड़ितों का पूर्णतः मानुषीकरण नहीं कर सकती। इस विमर्श के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्थागत शिक्षा, शिक्षा का पर्याय नहीं हो सकती।

### स्वतः प्रयास से सीखने में कमी

भारतीय शिक्षा प्रणाली में बालकों में स्वतः प्रयास से सीखने में कमी होती जा रही है। क्योंकि बालकों को नित्य नई उपलब्धि की ओर अग्रसर करने वाले ये स्कूल 'समय' को एक यांत्रिक दृष्टि से देखते हैं। इस दृष्टि से समय एक वस्तु है जो दबाकर छोटी की जा सकती है, अर्थात् बालकों की स्वभाविक रफ्तार को जबरन बढ़ाया जा सकता है, जिससे वे कम-से-कम समय में अधिक चीजें सीख लें। इस दृष्टि के रहते अभिजात स्कूल बालकों को किसी काम में तल्लीन हो जाने और घंटों लगे रहने की स्वतंत्रता नहीं दे सकते। उनपर जल्दी से जल्दी सीखते जाने और दूसरे बच्चों को पीछे छोड़ने के लिए इतना दबाव डाला जाता है कि सीखने की स्वतः स्फूर्त प्रेरणा मर जाती है। सिर्फ अध्यापक को खुश रखने और माँ-पिता की निगाह में गर्व का पात्र बनने की लालसा बची रहती है। अभिजात स्कूलों में पढ़ने वाले अधिकाँश छात्र प्राथमिक शिक्षा पूर्ण करते बौद्धिक रूप से राख हो चुके होते हैं।

स्वतः प्रयास से सीखने में कमी के लिए अध्यापकों की भी जबाबदेही बनती है। विद्यार्थी क्या सीख रहे हैं, कितना सीख पा रहे हैं और क्या कुछ नया कर पा रहे हैं। अधिकाँश विद्यालयों में यह देखने के लिए मिलता है कि शिक्षक

सूचनाओं के हस्तांतरण मात्र का ही कार्य करते हैं जो सूचना एवं संचार तकनीक युग में और माध्यमों द्वारा कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से किया जाना सम्भव है। वे विद्यार्थियों की ऊर्जा, रचनात्मकता व सीखने की क्षमताओं का उपयोग व्यर्थ की सूचनाएँ इकट्ठी करने, उन्हें रटने और परीक्षाओं में ज्यों-का-त्यों उगलवाने में कर रहे हैं। इस प्रकार के शिक्षण से वह सब नष्ट हो जाता है जो बच्चों के पास स्कूल आने से पहले होता है। उसकी सृजनात्मक क्षमता, भावनाओं और यहाँ तक कि उसके 'बचपन' को कुचल दिया जाता है। इस प्रकार शिक्षक और शिक्षार्थी के संबंध पर आधारित बैंकिंग शिक्षा पद्धति से समस्या उठाऊ पद्धति के तरफ प्रतिमान परिवर्तन करके छात्रों में विश्लेषण, आलोचनात्मक चेतना, स्वतः प्रयास से सीखना एवं सृजनात्मकता आदि मानसिक शक्तियों को छात्रों में विकसित किया जा सकता है।

### गुणात्मक शिक्षा का संकट

भारत में प्रचलित शिक्षा (प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च शिक्षा) में विस्तार सिर्फ सँख्यात्मक आधार पर हो रहा है, गुणवत्ता का क्रमशः विलोप होता जा रहा है। एक समय भारतीय शिक्षा पद्धति (विशेष रूप से तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशीला) वैश्विक अध्ययन के केंद्र हुआ करते थे, लेकिन वर्तमान संदर्भ में गुणात्मक शिक्षा एक मिथक बनकर रह गयी है। प्राथमिक शिक्षा में आज भी सार्वभौमिक अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के सवैधानिक प्रतिबद्धता के बावजूद हम सभी के लिए गुणात्मक शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर पा

रहे हैं, सकल नामांकन दर में तो वृद्धि हुई है, लेकिन विद्यालय त्याग (ड्रॉप आउट) काफी ऊँची है, दूसरी तरफ माध्यमिक शिक्षा सिर्फ एक कड़ी का कार्य करने तक सीमित रह गयी है। उच्च शिक्षा की स्थिति तो और भी दयनीय है। भारत का एक भी उच्च शिक्षण संस्थान/ विश्वविद्यालय विश्व के टॉप 100 में गुणवत्ता के दृष्टि से स्थान नहीं पा सके हैं। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग ने अपनी टिप्पणी में कहा कि भारतीय स्नातक नौकरी में रखने लायक नहीं हैं।

दूसरी तरफ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों में भारत ने अनेक शिक्षा संस्थानों, शोध संस्थानों तथा राष्ट्रीय व क्षेत्रीय स्तर की प्रयोगशालाओं की स्थापना की। आज 21वीं सदी में भारत की युवा पीढ़ी ने सूचना एवं संचार तकनीक के क्षेत्र में भारत को अत्यन्त सम्मानजनक स्थान दिलाया है। वैश्विक स्तर पर 'ज्ञान समाज' के निर्माण में भारत की भूमिका अग्रणी है। स्वतंत्रता के समय भारत की साक्षरता दर 20% थी। आज यह 65-68% है। भारत के उच्च शिक्षा संस्थानों में केवल 10% 18-23 आयु वर्ग के युवा शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। विश्व स्तर पर यह औसत 22% है। अपनी आर्थिक विकास दर बनाए रखने के लिए भारत को इस 10% को 20-22% तक पहुँचाना होगा। स्पष्टतः उच्च शिक्षा में बहुत बड़े प्रसार की त्वरित आवश्यकता है। भारत में उच्च शिक्षा में स्थानों की कमी के कारण लगभग 80 हजार युवा प्रति वर्ष विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं। जबकि भारत में केवल 8 हजार विद्यार्थी बाहर से आते हैं जिनमें अधिकाँश भारतीय मूल के होते हैं।

इसका मूल कारण भारतीय शिक्षा संस्थाओं में गुणवत्ता में कमी का होना है। गुणवत्ता की स्थिति यह है कि भारत के दो तिहाई विश्वविद्यालय तथा 90% महाविद्यालय गुणवत्ता के मानकों पर औसत से नीचे का कार्य निष्पादन कर रहे हैं। निःसन्देह विश्वविद्यालयी शिक्षा में बड़े परिवर्तन की आवश्यकता है ताकि निकलने वाले युवा कौशल तथा ज्ञान के क्षेत्र में अपनी स्वीकार्यता सम्मान के साथ पा सकें। भारत सरकार, राष्ट्रीय ज्ञान आयोग, सामान्य एवं प्रबुद्धजन सभी का मानना है कि उच्च शिक्षा में गुणवत्ता कौशलों की कमी एक बड़ी असफलता का बिंदु रहा है। सबसे प्रमुख समस्या गुणवत्ता बनाए रखने तथा बड़े विस्तार के साथ उच्च शिक्षा में युवा वर्ग की भागीदारी को 22% से आगे लाने की है। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग ने इसे 15% लाने के लिए सुझाव दिये हैं। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग के सुझाव के संदर्भ में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने तकनीकी तथा प्रबंधन के संस्थानों आई.आई.टी. एवं आई.आई.एम. की संस्था लगभग दोगुना करने जा रहा है। 30 नये केंद्रीय विश्वविद्यालय बनाए जा रहे हैं (राजपूत-2008)।

उच्च शिक्षा की गुणवत्ता बनाए रखना अहम चुनौती है। इसके लिए प्रतिबद्धता, कार्य संस्कृति, सकारात्मक सोच एवं राजनैतिक दृढ़ इच्छाशक्ति आवश्यक है। कोठारी आयोग (1964-66) ने अपनी अनुशंसा में शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) का 6% खर्च करने की सिफारिश की थी, लेकिन आज भी हम सिर्फ 3.5-3.8% तक ही शिक्षा पर खर्च

कर रहे हैं, जबकि विकसित देश बहुत पहले से ही 7% खर्च कर रहे हैं वहीं अन्य विकसित देश 1.5% जी.डी.पी. का खर्च कर रहे हैं। निष्कर्षतः गुणवत्तायुक्त शिक्षा द्वारा ही प्रतिमान परिवर्तन 'मनी मेकिंग एजुकेशन' से 'मैन मेकिंग एजुकेशन' की तरफ किया जा सकता है।

### वैश्वीकरण, सूचना एवं संचार तकनीक एवं शैक्षिक संकट

भारतीय शैक्षिक परिदृश्य आज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। भारत को अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक से कर्ज लेने के लिए अपनी आर्थिक नीतियों में परिवर्तन करना पड़ता है। परिणामतः भारतीय शिक्षा भी वैश्वीकरण एवं संचार क्रांति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। भारतीय शैक्षिक परिदृश्य में अधोलिखित संकट परिलक्षित हो रहे हैं—

- शिक्षा का उद्देश्य चरित्र एवं मानव निर्माण न होकर धनोपार्जन हो गया है।
- शिक्षा एक संस्कार एवं सर्वांगीण विकास न होकर एक वस्तु बनकर रह गयी है।
- मनुष्य को एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्राणी न मानकर एक संसाधन माना जा रहा है।
- ज्ञान का स्थान सूचना ने ले लिया है।
- भारतीय संदर्भ में 'डिजिटल डिवाइड' के रूप में सामाजिक विलगाव तेजी से बढ़ रहा है।
- पूरी शिक्षा प्रणाली यांत्रिक रूप से 'इलेक्ट्रॉनिक केंद्रित' हो गयी है।
- इलेक्ट्रॉनिक युग में 'मुक्ति' का एजेंडा पृष्ठ भूमि में चला गया है।

- सूचना-संचार तकनीक सिर्फ संज्ञानात्मक पक्ष तक ही सीमित है, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष पूर्णतः उपेक्षित है।
- शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया से आलोचनात्मक चिंतन, सृजनात्मक चिंतन एवं अन्तःक्रिया का पूर्णतः विलोप हो गया है।

21वीं सदी ज्ञान आधारित समाज है, जो तीन मूलभूत अवधारणाओं पर आधारित है—

- (क) सूचना-प्रौद्योगिकी समस्त आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक गतिविधियों का संचालन करेगी अर्थात् किसी भी कार्यक्रम की अंतर्वस्तु अपने संचार के माध्यम के अधीन होगी।
- (ख) एकीकरण की प्रक्रिया समग्र संसार को जकड़ लेगी इसलिए जिनके पास अति उच्च स्तर की सूचना प्रौद्योगिकी होगी उन्हें वैश्विक स्तर पर सभी क्षेत्रों में बढ़त हासिल होगी। इस प्रकार राज्य, राष्ट्र, स्वायत्तता के परिक्षेत्रों वैश्विक गाँव (ग्लोबल विलेज) में पुराने पड़ जायेंगे।
- (ग) समाजवाद, पूँजीवाद, सर्वोदय, मूल्यगामी मानवतावाद जैसे विचारधारागत मूल्यों की जगह भौतिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धि के सार्वभौम मूल्य ले लेंगे (मोहन्ती-2001)।

उत्तर औपनिवेशिक समाज दोनों ही धाराओं में बह रहे हैं—एक धारा भूमंडलीकरण की है तो दूसरी धारा मुक्ति के लिए निरन्तर जारी संघर्ष की। वस्तुतः इन समाजों ने औपनिवेशिक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष किया और स्वतंत्रता अर्जित की है। पावलो फ्रेरे का चिंतन मुक्ति के

लिए निरन्तर जारी संघर्ष की धारा से संबंधित रहा जो उत्पीड़ितों के पूर्णतः मानुषीकरण पर टिका रहा। सृजनशील समाज सामाजिक विकास की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें अब तक मंद अंतर्विरोध सक्रिय तथा सुसंबद्ध हो चले हों तथा ज्यादा से ज्यादा व्यक्ति और समूह अपनी सृजनशील संभावना के प्रति जागरूक होते जा रहे हों। इस अवस्था की विशेषता यह होती है कि जनता का वंचित वर्ग अपनी सृजनात्मकता को साकार करने के समक्ष खड़ी बाधाओं के प्रति नव चेतना से भर उठता है। जब शोषित वंचित, दलित, महिला, आदिवासी, कामगार अपनी सृजनात्मक संभावनाओं को साकार करने के लिए अपने अधिकारों की पूर्ति करना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में माँगों को लेकर संघर्ष अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है। सृजनशील समाज की विशेषता है विरोध का वातावरण होना।

### निष्कर्ष

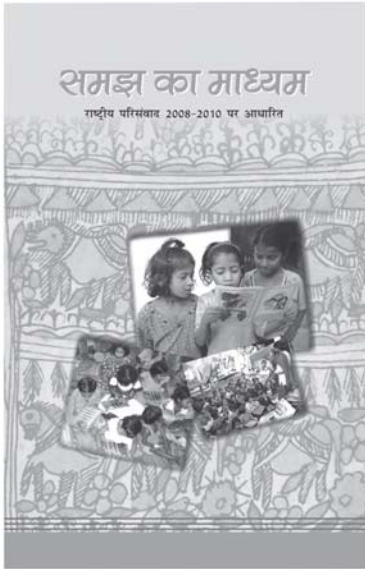
भारतीय संदर्भ में टैगोर, विवेकानंद, अरविंद, गाँधी, गिजुभाई, श्री सत्य साई बाबा जैसे विचारकों ने जिन भारतीय शिक्षा की समस्याओं को विश्लेषित किया है उसी को यूरोप, अमेरिका, ब्राजील की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उपक्रमों के क्षेत्रों में पावलो फ्रेरे ने देखने का प्रयास किया है। फ्रेरे, इवान इलिच की भाँति सम्पूर्ण शैक्षिक ढाँचे को नष्ट करने के हिमायती तो नहीं हैं लेकिन शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं। निर्विद्यालयीकरण की भाँति फ्रेरे मानते हैं कि शिक्षण संस्था से बाहर भी शैक्षिक प्रक्रिया संभव है। वह शिक्षा



प्रणाली के माध्यम से छात्रों में आलोचनात्मक चेतना विकसित कर सामाजिक न्याय केंद्रित शोषणमुक्त पूर्ण मानुषीकरण जैसा परिवर्तन क्रांति (शैक्षिक) के द्वारा लाने पर बल देते हैं। पावलो फ्रेरे सर्वाधिक प्रासंगिक समस्या उठाऊ शिक्षा, पाठ्यक्रम लचीलापन, स्वतः स्फूर्ति द्वारा सीखना, शिक्षक को अभिभावकत्व बोध बनाने, शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिकता से समृद्ध करने, बालक को वस्तु की जगह मानव इकाई मानने, सीखने को कृत्रिमता के भ्रम से यथार्थ के धरातल पर लाने, अनौपचारिक शैक्षिक गतिविधियों को शैक्षिक रूप से अधिक प्रभावी बनाने, शिक्षा के माध्यम से सामाजिक रूपान्तरण करने आदि के प्रयासों में लगते हैं।

### संदर्भ

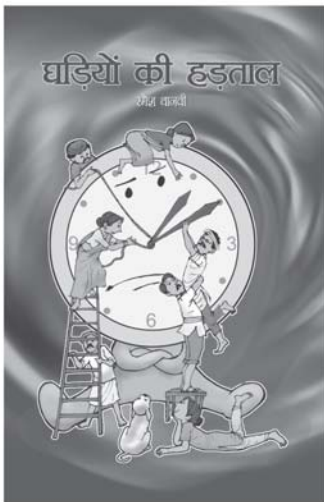
- कुमार कृष्ण 1996. दोहरी शिक्षा व्यवस्था का अभिशाप, *परिप्रेक्ष्य*, न्यूपा, वर्ष-3, अंक-1
- \_\_\_\_\_2005. शिक्षा का उद्देश्य और आज की व्यवस्था, *भारतीय आधुनिक शिक्षा*, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, वर्ष 23, अंक-4
- गुप्ता, विशैष 2008. शिक्षा व्यवस्था का आईना, *दैनिक जागरण*-16 फरवरी
- गौड़, आर. एस. 2001. *महात्मा गाँधी का शिक्षा दर्शन*, *परिप्रेक्ष्य* न्यूपा, अप्रैल-अगस्त 2001 वर्ष 8 अंक 1-2
- टेलर, पी. 1993. *दि टेक्स्ट्स ऑफ पावलो फ्रेरे*, बकिंघम : ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस पृ. 93-94
- फ्रेरे, पावलो 1970. *पेडागाजी ऑफ आप्रेस्ट* पेनगुइन, बुक्स एजुकेशन सिरीज
- मोहनती, एम. 2001. समाज विज्ञान, भूमंडलीकरण और सर्जनशील समाज की चुनौतियाँ, *परिप्रेक्ष्य*, न्यूपा, नई दिल्ली, वर्ष-8, अंक 1-2
- राजपूत, जे.एस. 2006. उच्च शिक्षा की समस्याएँ, *दैनिक जागरण*, 5 जुलाई 2008
- सिंह, डी. 2002. *श्री सत्य साई बाबा का शिक्षा दर्शन—सिद्धांत एवं व्यवहार में*—अप्रकाशित शोध ग्रंथ, शिक्षा संकाय, वी.बी.एस. पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर



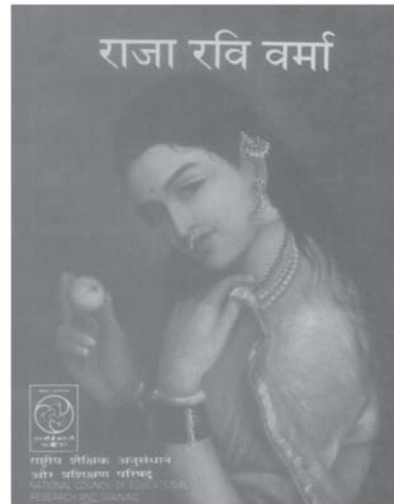
**समझ का माध्यम**  
रु. 45.00/पेपर बैक/पृष्ठ 56



**मानव का निर्माण**  
रु. 45.00/पेपर बैक/पृष्ठ 104



**घड़ियों की हड़ताल**  
रु. 40.00/पेपर बैक/पृष्ठ 60



**राजा रवि वर्मा**  
रु. 13.50/पेपर बैक/पृष्ठ 104

अधिक जानकारी के लिए कृपया [www.ncert.nic.in](http://www.ncert.nic.in) देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पत्तों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।